

मुक्त भोग
की
समस्या और ब्रह्मचर्य



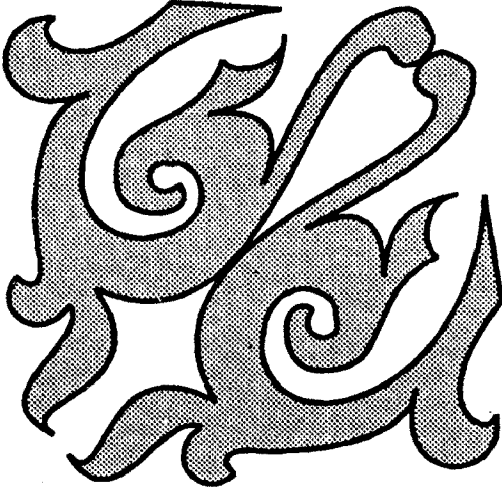
आचार्य महाप्रज्ञ

इन्द्रिय विजय केवल अध्यात्म का सूत्र नहीं है, वह स्वास्थ्य का सूत्र भी है। अध्यात्म-शासन में उसकी सीमा व्यापक हो सकती है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में उसकी सीमा छोटी भले हो, किन्तु सीमा अत्यन्त अनिवार्य है। वर्तमान युग में इन्द्रिय तृप्ति को जो असीमता दी है, उसका परिणाम है स्वास्थ्य की हानि और अपराधी मनोवृत्ति को प्रोत्साहन। भोगवादी चिन्तन की धारा प्रलंब है, इसीलिए मुक्तभोग की चर्चा उन्मुक्त भाव से हो रही है। उसके घातक परिणाम भी सामने आ रहे हैं। परिणाम की समीक्षा के बाद यदि चिन्तन ब्रह्मचर्य की ओर मुड़े, सीमा-बंध का प्रयोग किया जाए तो दैहिक स्वास्थ्य और सामाजिक स्वास्थ्य-दोनों की पर्याप्त सुरक्षा हो सकती है ।

मुक्त भोग की समस्या और ब्रह्मचर्य

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुक्त भोग की समस्या और ब्रह्मचर्य



आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक
मुनि धनंजयकुमार
© : आदर्श साहित्य संघ, चूरु

श्री पारसमलजी शान्तिलालजी संजयकुमारजी विकासकुमारजी धारीवाल
सोजतरोड (राजस्थान) एवं पल्लावरम् (तमिलनाडु) के सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राजस्थान)
मूल्य : साठ रुपये / संस्करण : १९९९ / मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

MUKTA BHOG KEE SAMASYA AUR BRAHMACHARYA :
By Acharya Mahaprajana Rs. 60.00

स्वकथ्य

इन्द्रिय विजय केवल अध्यात्म का सूत्र नहीं है, वह स्वास्थ्य का सूत्र भी है। अध्यात्म-शासन में उसकी सीमा व्यापक हो सकती है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में उसकी सीमा छोटी भले हो, किन्तु सीमा अत्यन्त अनिवार्य है। वर्तमान युग में इन्द्रिय तृप्ति को जो असीमता दी है, उसका परिणाम है स्वास्थ्य की हानि और अपराधी मनोवृत्ति को प्रोत्साहन। भोगवादी चिन्तन की धारा प्रलंब है, इसीलिए मुक्तभोग की चर्चा उन्मुक्त भाव से हो रही है। उसके घातक परिणाम भी सामने आ रहे हैं। परिणाम की समीक्षा के बाद यदि चिन्तन ब्रह्मचर्य की ओर मुड़े, सीमा-बंध का प्रयोग किया जाए तो दैहिक स्वास्थ्य और सामाजिक स्वास्थ्य—दोनों की पर्याप्त सुरक्षा हो सकती है।

चाड़वास

२६ जनवरी १९९७

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादकीय

- यौवन की दहलीज पर
उठता है एक अंतःस्वर
प्रबल भावनात्मक संवेग
जन्मता है मानसिक उद्वेग
कामना का उदाम प्रवाह
एक अतृप्त अबोली चाह
उद्धत इन्द्रियां और मन
उभरता है चिन्तन—
भोग जीवन का सार है
सुख का संसार है
यही है जीवन
यौवन की अभिभाषा
तृप्ति और सुख की लौकिक भाषा
भोग का यह सतत अनुचिन्तन
अब्रह्मचर्य को आमंत्रण ।
- भिन्न है अध्यात्म की भाषा
सुख की अलौकिक परिभाषा
क्या भोग ही जीवन है ?
इसीलिए यौवन है ?
वह वैन्सा है सुख
जिसकी परिणति है दुःख ?
जो बढ़ाता है रोग
वह वैन्से काम्य है भोग ?
- सुख वह है
जो दुःख की परंपरा मिटाए ।
सदाचार वह है ,
जो जीवन को पवित्र बनाए ।
काम्य वह है,
जो आरोग्य की धारा बहाए ।
इसीलिए ब्रह्मचर्य श्रेय है
अध्यात्म साधक का उन्नेय है

अक्षय शक्ति का महामंत्र
प्रतिभा विक्रमस का संयंत्र
बनता है विशुद्ध भावतंत्र
मानव के लिए सर्वतोभद्र यंत्र ।

- वर्तमान युग का यक्ष-प्रश्न—
भोगवादी अवधारणा का समर्थन
सम्मोहक विज्ञापन
उन्मुक्त प्रदर्शन
विषय-भोग का आकर्षण
दिग्भ्रान्त मानव मन
चारित्रिक अधः पतन
उदात्त भारतीय संस्कृति का क्षरण
बढ़ रही है आधि-व्याधि
एड्स जैसी लाइलाज व्याधि
भोग की यह भयावह निष्पत्ति
त्रासद असह्य विपत्ति
आक्रान्त और भयभीत मानव की स्थिति
साक्ष्य है सुभाषित सूक्त की पंक्ति—
भोगा न भुक्ता :
वयमेव भुक्ताः ।
- महाप्रज्ञ का प्रस्तुत सृजन
युवा मन की अहम् समस्या का विश्लेषण
त्याग और संयम का मूल्यांकन
वक्त्र-संतप्त मानव का दिशादर्शन ।
- मुक्त भोग की समस्या और ब्रह्मचर्य का स्वाध्याय
ब्रह्मचर्य के प्रयोग बने नवजीवन अध्याय
सुलझेगी जीवन की जटिल पहेली
खुलेंगी दिशाएं नई नवेली
मिलेगी नई दीप्ति
तेजोमय कान्ति
मन और इन्द्रिय की दुनिया से परे
टूट जाएंगे दुःख के घेरे
सुख का स्रोत बहेगा अविकल
आनन्द की गाथा गाएगा हर पल ।

बीदासर

मुनि धनंजयकुमार

अनुक्रम

१. ब्रह्मचर्य : सृजनात्मक शक्ति	११
२. ब्रह्मचर्य	१३
३. महाव्रत और ब्रह्मचर्य	२३
४. ब्रह्मचर्य का शरीर शास्त्रीय अध्ययन	२८
५. ब्रह्मचर्य के साधक-बाधक तत्व	३५
६. ब्रह्मचर्य के प्रयोग	४२
७. काम की समस्या और संयम	४७
८. काम परिष्कार के सूत्र	५४
९. लड़ें स्वयं के साथ	६०
१०. ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा	७०
११. आध्यात्मिक सुख	८०
१२. गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण क्यों ?	८९
१३. चिन्तन इन्द्रिय चेतना का	९९
१४. इन्द्रिय संयम का प्रश्न	१०८
१५. विषय को नहीं विकार को जीतें	११६
१६. इन्द्रिय विजय का सूत्र	१२७
१७. आवश्यक है भोग का संयम	१३४
१८. भोग : अकरण का संकल्प और तादात्म्य	१३९
१९. संभोग से समाधि : कितना सच, कितना झूठ ?	१४५
२०. चिर यौवन का रहस्य	१५०

ब्रह्मचर्य : सृजनात्मक शक्ति

एक आदमी संन्यासी के पास गया और धन की याचना की। संन्यासी ने कहा—‘मेरे पास कुछ भी नहीं है।’ उसने बहुत आग्रह किया तो संन्यासी ने कहा—‘जाओ नदी के किनारे एक पत्थर पड़ा है, वह ले आओ।’ वह गया और पत्थर ले आया। संन्यासी ने कहा—‘यह पारसमणि है, इससे लोहा सोना बन जाता है।’ वह बहुत प्रसन्न हुआ। संन्यासी को प्रणाम कर वह वहां से चला। थोड़ी दूर जाने पर उसके मन में एक विकल्प उठा—पारसमणि ही यदि सबसे बढ़िया होता तो संन्यासी इसे क्यों छोड़ता? संन्यासी के पास इससे भी बढ़िया कोई वस्तु है। वह फिर आया और प्रणाम कर बोला—‘बाबा! मुझे यह पारसमणि नहीं चाहिए, मुझे वह दो जिसे पाकर तुमने इस पारसमणि को टुकरा दिया।’

पारस को टुकराने की शक्ति किसी भौतिक सत्ता में नहीं हो सकती। अध्यात्म ही एक ऐसी सत्ता है, जिसकी दृष्टि से पारसमणि का पत्थर से अधिक कोई उपयोग नहीं है। काम-भोग को आप पारसमणि मान लें, मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी, किन्तु वह सबसे बढ़िया नहीं है, सुखानुभूति का सर्वाधिक साधन नहीं है। आनन्द के स्रोत का साक्षात् होने पर आदमी उसे वैसे ही टुकरा देता है, जैसे संन्यासी ने पारसमणि को टुकराया था।

उपनिषद् के ऋषियों ने गाया—**आनन्दं ब्रह्म!** आनन्द ब्रह्म है। यदि आनन्द नहीं होता तो हमारा जीवन बुझी हुई ज्योति जैसा होता। हमारे शरीर में से एक रश्मिपुंज प्रसृत हो रहा है। हमारी आंखों में प्रकाश तरंगित हो रहा है। यह सब क्या है? हमारे आनन्द की अभिव्यक्ति है। हमारी चेतना में आनन्द का सिन्धु लहरा रहा है। हमारा मन आनन्द की खोज में बाहर दौड़ रहा है। ठीक कस्तूरी मृग की दशा हो रही है। कस्तूरी नाभि में है और वह कस्तूरी की खोज में मारा-मारा फिर रहा है। विषयों की अनुभूति में सुख नहीं है, ऐसा मेरा अभिमत नहीं है। विषयों से प्राप्त होने वाला सुख असीम नहीं है, शारीरिक तथा मानसिक अनिष्ट की परिणति से मुक्त नहीं है। चेतना में आनन्द सहज स्फूर्त है, असीम है और उसके परिणाम में ग्लानि की अनुभूति नहीं है।

कुछ मानसशास्त्रियों का मत है कि ब्रह्मचर्य इच्छाओं का दमन है और इच्छाओं का दमन करने से आदमी पागल बनता है । उनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य निषेधात्मक प्रवृत्ति है । इसलिए उसकी उपादेयता में उन्हें विश्वास नहीं है ।

भारतीय चिन्तन इससे भिन्न रहा है । भारतीय मनीषी ब्रह्मचर्य को सृजनात्मक शक्ति मानते हैं । उसमें निषेध केवल बाह्य उद्दीपनों का है । वह आन्तरिक चेतना के विकास और मुक्ति का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है, इसलिए उसकी सृजनात्मक शक्ति बहुत व्यापक है ।

योग के आचार्यों ने हमारे शरीर में सात चक्र माने हैं । उनमें दूसरे चक्र का नाम स्वाधिष्ठान है । यह काम-चक्र है । यह चक्र विकसित नहीं होता तब मनुष्य वासना में रस लेता है । इस चक्र को हम विशुद्धि-चक्र (कण्ठ-मणि) से संपृक्त कर देते हैं, तब हमारी आनन्दानुभूति का स्रोत बदल जाता है । हम आज्ञा-चक्र या भ्रू-चक्र को विकसित कर लेते हैं; तब हमारी आनन्दानुभूति का मार्ग बदल जाता है । मानसशास्त्र के अनुसार काम का उदात्तीकरण होता है । योगशास्त्र के अनुसार काम-चक्र का ऊर्ध्वीकरण होता है । इस ऊर्ध्वीकरण से हमारे मन का सहज आनन्द के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है । सुखानुभूति के द्वार को बन्द कर कोई आदमी ब्रह्मचारी नहीं बन सकता किन्तु आनन्दानुभूति के द्वार को खोलकर ही ब्रह्मचारी बन सकता है ।



ब्रह्मचर्य

इन्द्रियों का संयम साधना का प्रथम किन्तु बहुत दूरगामी सूत्र रहा है। प्रारम्भ यहीं से होता है किन्तु बहुत दूर तक जाता है। पांच इन्द्रियां हैं—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—ये पांच विषय हैं। एक अर्थ में इन्द्रियों का जीवन ही वास्तव में जीवन है। आदमी उन्हीं को भोग रहा है और उन्हीं के साथ जीवन को चला रहा है।

ब्रह्मचर्य : अर्थ मीमांसा

शब्द सुनता है, रूप देखता है, गंध सूंघता है, रस चखता है और स्पर्श करता है। यदि यह न हो तो जीवन कुछ लगता ही नहीं कि जीवन है। प्रश्न है—ब्रह्मचर्य का। ब्रह्मचर्य के बारे में कुछ धारणाएं विचित्र सी हो गई हैं। स्पर्शनिन्द्रिय संयम को ही ब्रह्मचर्य के अर्थ में स्वीकार कर लिया गया। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल स्पर्शनिन्द्रिय संयम ही नहीं है किन्तु पंचेन्द्रिय संयम और इससे आगे विकल्प-संयम, स्मृति-संयम और चिन्तन-संयम भी है। मन और इन्द्रिय—इन सबका संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का एक व्यापक अर्थ रहा है कि ब्रह्म में जिनका चरण होता है, वह है ब्रह्मचर्य। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान भी होता है, ब्रह्म का अर्थ परमात्मा भी होता है और ब्रह्म का अर्थ गुरुकुलवास भी होता है। वास्तव में ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्य यह गुरुकुलवास से संबंधित था। जो गुरुकुलवास में रहता है या गुरुकुलवास की चर्या का पालन करता है, वह ब्रह्मचारी होता है, उसके ब्रह्मचर्य होता है। गुरुकुलवास में रहने की विशेष चर्या थी—इन्द्रियों का संयम और मन का संयम। पर हमारी धारणा यह है कि ब्रह्मचारी रहे तो स्पर्श का संयम करे। स्पर्श का संयम भी कैसे होगा? सब इन्द्रियां परस्पर जुड़ी हुई हैं। एक को टालकर दूसरे को नहीं संभाला जा सकता। यदि शब्द का संयम नहीं है तो स्पर्शनिन्द्रिय का संयम नहीं हो सकता। यदि चक्षु का संयम नहीं है तो स्पर्शनिन्द्रिय का संयम नहीं हो सकता। ये सारे उद्दीपन हैं। प्रत्येक रस के पैदा होने में उद्दीपन आवश्यक होते हैं। जब उसके स्थायी भाव, संचारी भाव सब सक्रिय होते हैं और फिर उसको बन्द करना चाहते हैं, यह संभव नहीं होता। सभी का संबंध है। उनमें रसन और स्पर्शन—इन दो का तो बहुत गहरा संबंध है।

रसन और स्पर्शन

ब्रह्मचर्य के साथ रस का बहुत गहरा सम्बन्ध है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि में रसन और स्पर्शन—ये परस्पर जुड़े हुए हैं। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक को वश में करने पर दूसरा अपने आप वश में हो जाता है। अलग से प्रयत्न करना जरूरी नहीं होता। रसना पर नियमन नहीं होता, संयम नहीं होता, स्वाद का संयम नहीं होता और स्पर्शन इन्द्रिय के संयम की बात जागती है तो बड़ी कठिन बात है। अहिंसा का सम्बन्ध शरीर से भी है, पर शरीर की वह मांग नहीं है। सत्य का सम्बन्ध, अचर्य का सम्बन्ध, अपरिग्रह का सम्बन्ध शरीर और मस्तिष्क से है। किन्तु ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध शरीर से भी है और मन से भी है। उसकी शारीरिक मांग भी है और मानसिक मांग भी है। पुराना सिद्धांत कुछ दूसरा है कि वीर्य का स्खलन होता है तो ब्रह्मचर्य खंडित होता है। वीर्य स्खलित नहीं होता, वह ऊपर चढ़ जाता है तो ब्रह्मचर्य होता है। उसे ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। मैं तो ऐसा नहीं सोचता और ऐसा संभव नहीं है। कुछेक शब्दों का अर्थ इतना बदल जाता है कि हम एक रूढ़िगत अर्थ मानते चले जाते हैं। मानने की बड़ी आदत है। हर बात को मानते चले जाते हैं। जानने का प्रयत्न बहुत कम करते हैं। मूल तक, गहराई तक जाने की आदत बहुत कम होती है।

ऊर्ध्वरेता

शरीरशास्त्रीय दृष्टि से ऐसा कोई स्नायु या नलिका नहीं है जिससे वीर्य ऊपर जा सके। वीर्य की जहां ग्रंथियां हैं वहां से कोई रास्ता नहीं है कि वीर्य ऊपर चढ़ सके। ऊर्ध्वरेता का अर्थ था—प्राणशक्ति को ऊपर ले जाने वाला। प्राण-विद्युत् नीचे से ऊपर जा सकती है और ऊपर से नीचे आ सकती है। विद्युत् पूरे शरीर में फैल सकती है किन्तु वीर्य के लिए तो कोई रास्ता नहीं है। मूल में वीर्य का अर्थ ही था—शक्ति, ऊर्जा। यह जो शुक्र, वीर्य और रजस् को एक अर्थ में मान लिया गया है, यह बड़ी भ्रान्ति है। इन सबके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं।

कहा जाता है—बिन्दु का पात होने से मरण हो जाता है और बिन्दु का धारण होना ही जीवन है। बिन्दु का मतलब ही शुक्र कर दिया गया। इससे बड़ी समस्या पैदा हो गई। अगर बिन्दुपात से मरण हो तब तो कोई आदमी जी नहीं सकेगा। बड़ी कठिन बात है। बिन्दु का अर्थ ही प्राण-विद्युत् है। हमारे मस्तिष्क में जो प्राण-विद्युत् है, उसका क्षरण होता है तो मरण होता है। क्योंकि जीवन का मुख्य आधार मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत् और मस्तिष्क है। पूरे शरीर में कोशिकाएं नष्ट होती

हैं और फिर नई बनती जाती हैं। मस्तिष्क ही एक ऐसा है कि जहां कोशिकाएं नष्ट होती हैं पर उनका पुनर्निर्माण नहीं होता। सबसे ज्यादा सुरक्षा करने का साधन है हमारा मस्तिष्क और फिर प्राण-विद्युत्।

ब्रह्मचर्य : मूल्यांकन का आधार

इस पर ध्यान देना जरूरी है कि काम की तरंग जब पैदा होती है, मस्तिष्क क्षुब्ध हो जाता है। जब काम की तरंग विलीन हो जाती है मस्तिष्क हो जाता है। जितना मस्तिष्क शांत रहता है, आदमी उतना ही शक्तिशाली बनता है और मस्तिष्क जितना उद्विग्न, उत्तेजित या क्षुब्ध होता है, आदमी उतना ही कमजोर होता है। ब्रह्मचर्य का इसी आधार पर मूल्यांकन किया गया है। कुछ लोग बड़े परेशान हो जाते हैं कि वीर्य-स्खलन हो गया। जिसके वीर्य-स्खलन हो गया, उसे वे ब्रह्मचारी नहीं मानते, बड़ी विचित्र बात है। कई लोग तो बड़े चिंतित हो जाते हैं। यह कोई इतनी चिंता की बात नहीं है। अगर किसी दुर्भावना से, किसी उत्तेजना से वीर्य-स्खलन होता है तो सचमुच चिंता की बात है। यह बार-बार नहीं होना चाहिए। किन्तु एक प्राकृतिक नियम है कि जब वीर्य ग्रंथियों में समा नहीं सकता तो वह बाहर निकलता है। यह कोई चिंता की बात नहीं है।

एक प्रश्न है ब्रह्मचारी होने का। सब व्यक्ति ब्रह्मचारी बन सकें, यह तो बहुत कठिन बात है, कठिन साधना है। सामान्य व्यक्ति अपने 'काम' की पूर्ति करते हैं और जीवन चलाते हैं। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो इस दिशा में उसका संयम करना चाहते हैं, संयम करते हैं।

संभोग कितनी बार

'काम' का अतिसेवन खतरनाक होता है। उससे शक्तियां बहुत क्षीण होती हैं।

सुकरात से पूछा गया— मनुष्य को संभोग कितनी बार करना चाहिए ?

उन्होंने कहा—जीवन में एक बार।

'यह संभव न हो तो ?'

'वर्ष में एक बार।'

'यह भी संभव न हो तो ?'

'महीने में एक बार।'

'यह भी संभव न हो तो ?'

'फिर कफन सिर पर रख लो और चाहे जैसे चलो।'

क्यों आता है पागलपन ?

यह बिल्कुल सही बात है कि जो अति है वह बहुत खतरनाक है। कुछ लोग जो मनोविज्ञान की भाषा में सोचते हैं वे ऐसा भी सोचते हैं कि ब्रह्मचारी रहने वाला पागल हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। बात भी ठीक है। इसमें सचाई भी है कि अब्रह्मचर्य सुख है। इसमें कोई संदेह नहीं माना गया है। आदमी एक सुख को ठुकराता है, शरीर की मांग को ठुकराता है तो प्रतिक्रिया होती है, कुछ विक्षेप होता है और पागलपन-सा आता है। किन्तु यदि उससे दूसरा बड़ा सुख मिल जाता है तो पागलपन नहीं आता, और अधिक आनंद आने लग जाता है। यह पागलपन का जो प्रश्न आता है वह उस स्थिति में आता है, जब आदमी प्राप्त सुख को छोड़ता है और दूसरा सुख कोई सामने नहीं होता। एक लकीर है। उसके नीचे बड़ी लकीर खींच दे तो पहले वाली अपने आप छोटी हो जाएगी। किन्तु लकीर कोरी रहती है तो बड़ी या छोटी की बात नहीं होती। बड़ा सुख उपलब्ध किया जाए तो फिर यह बात अपने आप गौण हो जाती है।

सुख का अर्थ

उसकी साधना के कुछ सूत्र हैं। उन सूत्रों का आलम्बन लेने पर सहज सुख उपलब्ध होता है और उससे भी ज्यादा सुख उपलब्ध हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया में अन्तर्यात्रा का प्रयोग किया जाता है। अन्तर्यात्रा का अच्छा अभ्यास होने पर, सुषुम्ना में चित्त की ऊपर और नीचे की यात्रा होने पर ऐसे सुख का अनुभव होता है कि जैसा शायद भोग में भी नहीं होता।

दर्शनकेन्द्र पर बालसूर्य का ध्यान करते-करते ऐसे स्पंदन जागते हैं, ऐसे सुख का अनुभव होता है कि वैसा सुख काम-सेवन में भी नहीं होता। अगर हम इसके वैज्ञानिक कारण को समझ लें तो बात बहुत स्पष्ट हो जाएगी। सुख का अर्थ होता है—मन का संकल्प और विद्युत्-रसायन का योग होना। वास्तव में जो सुख या दुःख होता है, वह एक प्रकार की विद्युत्-धारा के साथ हमारे मन का योग होने से होता है। एक प्रकार के रसायन के साथ हमारा मन जुड़ता है तो सुख का संवेदन बन जाता है। दूसरे प्रकार की विद्युत्-धारा या दूसरे प्रकार के रसायन के साथ मन जुड़ता है तो दुःख का संवेदन बन जाता है। योग होना मन का—यह एक बड़ी बात है। हम अपने भीतरी रसायनों के साथ, विद्युत्-प्रवाहों के साथ अपने मन को जोड़ सकें तो बहुत सुख उपलब्ध हो सकता है।

सुख दुःख का संवेदन

दो ग्रन्थियां खोजी गई हैं सिर के पीछे, जिसे गुप्ति का भाग कहा जाता है। वहां छोटी-छोटी दो ग्रन्थियां हैं। वे परस्पर सटी हुई हैं। आज का वैज्ञानिक विश्लेषण यह है कि एक ग्रन्थि जाग जाए तो फिर चाहे जितनी भयंकर घटना घटित हो जाए, आदमी को कभी दुःख नहीं होगा और दूसरी ग्रन्थि जाग जाए तो चाहे जितनी अनुकूलता मिल जाए, वैभव मिल जाए, संपदा मिल जाए—उसे कभी सुख नहीं होगा। हमारी धारणा यह है कि सुख और दुःख हमें बाहर से मिलता है। किन्तु सचाई यह है कि इनका संवेदन भीतर में होता है। पदार्थ हो चाहे न हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। पदार्थ होने पर भी सुख-दुःख मिल सकता है। मिलेगा तभी जब उस प्रकार के प्रकम्पन और स्पंदन हमारे मन में जाग जाएंगे, उस प्रकार की तरंग जागेगी और विद्युत्-धारा का योग हो जाएगा। यह हमारी नितांत संवेदना की प्रक्रिया है। हम जो नियमन करेंगे, संयम करेंगे, वह पदार्थ का नहीं करेंगे। हम संवेदना का नियमन करेंगे। इस संवेदना के रहस्य को समझ लेना ही ब्रह्मचर्य को समझ लेना है। जिस व्यक्ति ने संवेदना के रहस्य को नहीं समझा वह इस रहस्य को नहीं समझ सकता। वह केवल बाहरी वस्तु पर भटकता रहेगा, बाहरी पदार्थ पर उलझता रहेगा। यह सही है कि बाहरी पदार्थ भी उस संवेदना को जगाने का निमित्त बनता है किन्तु सुख-दुःख देने का निमित्त नहीं बनता।

यौन हार्मोन्स का स्त्राव सब व्यक्तियों में होता है। पहले पीनियल ग्रन्थि के द्वारा उसे रोक लिया जाता है। वह नीचे नहीं जाता। जब बालक बारह-तेरह वर्ष का होता है तब पीनियल निष्क्रिय होने लगता है और यौन हार्मोन्स, उत्तेजना के जो हार्मोन्स हैं, ये स्त्राव नीचे जाने लगते हैं। यौन हार्मोन्स का गोनाड में आना और उसे प्रभावित करना—यही है अब्रह्मचर्य। यह बिलकुल शारीरिक प्रक्रिया है कि वे हार्मोन्स आते हैं और गोनाड ग्रन्थि को प्रभावित करते हैं, कामग्रन्थि को प्रभावित करते हैं और तब काम-वासना की विचारधारा जाग जाती है। जिस व्यक्ति ने दर्शनकेन्द्र पर, ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान किया और उन यौन-हार्मोन्स को नियंत्रित करना सीख लिया, उस व्यक्ति में परिवर्तन आ जाएगा।

कई प्रकार की वृत्तियां होती हैं। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें यह वासना जागती ही नहीं। यह तो बहुत आगे की भूमिका है। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें वासना जागती है किन्तु सताती नहीं और एक वृत्ति वह होती है, जिसमें वासना जागती है और निरन्तर सताती है।

तीन अवस्थाएं

अति-कामुकता, कामुकता और अकामुकता—ये तीन अवस्थाएं बन जाती हैं। एक गृहस्थ के लिए अकामुकता वाली बात तो होती नहीं। वह कोई संन्यासी तो नहीं जो बिलकुल काम का संपर्क न करे। अब शेष दो वृत्तियां बचती हैं। एक स्थिति यह है—व्यक्ति काम का सेवन करता है। दूसरी स्थिति यह है—वासना उसे विवश कर देती है, उसे सताती है। वह सताए नहीं। व्यक्ति नियमन कर सके, इतनी क्षमता तो हर व्यक्ति में जागनी चाहिए। उस पर हमारा नियन्त्रण रहे, हम पर हावी न हों, वे हमारी स्वामी न बनें, हम उनके स्वामी बनें। उन पर हमारा नियन्त्रण हो और हम उन पर हावी हों। इतना ही करना है। आप वीतराग की दृष्टि से कभी न सोचें कि ध्यान करेंगे तो संसार कैसे चलेगा? सब ब्रह्मचारी हो जाएंगे, यह भी अति-कल्पना की बात होगी। यह कभी संभव भी नहीं है। बड़े-बड़े संन्यासियों के लिए भी कितनी कठिनाई की बात होगी, यह भी जानते हैं। इस बात की चिन्ता न करें। यह सोचें कि यह बड़ी जटिल वृत्ति है, इस पर नियन्त्रण करने की थोड़ी-सी भी वृत्ति हमारी जाग जाये।

दमन और उदात्तीकरण

नियन्त्रण में दो बातें हैं—एक नियन्त्रण होता है दमन से। एक नियन्त्रण होता है उदात्तीकरण से। दमन से और अधिक प्रतिक्रिया होती है, और पागलपन वाली बात आती है। जब आदमी वृत्ति को जबरदस्ती रोकता है, नियंत्रण करता है, नियन्त्रण करता चला जाता है, दमन करता चला जाता है तब दमन की प्रतिक्रिया के स्वरूप चित्त में क्षोभ पैदा होता है, एक प्रकार का पागलपन भी आ जाता है। पूरा नहीं तो व्यक्ति आधा पागल बन जाता है। जो लोग शादी नहीं करते, उन्हें विक्षिप्त अवस्था में हमने देखा है। यह स्थिति आ जाती है अतिनियंत्रण के द्वारा। मैं जिस नियमन की बात कर रहा हूँ वह जबरदस्ती दबाना नहीं है, किन्तु उस वृत्ति का उदात्तीकरण करना है। उस वृत्ति को इतना विशाल बना दिया जाता है प्रयोग के द्वारा कि जिससे सताने की बात समाप्त हो जाती है। इसमें दमन नहीं होता, जबरदस्ती नहीं रोका जाता किन्तु यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे वे हार्मोन्स कम स्रवित होते हैं और अपना कम प्रभाव जताते हैं। यह सारा साधना के द्वारा संभव होता है और चैतन्य केन्द्रों का ध्यान इसमें बहुत सहयोगी बनता है। जिन लोगों में ज्यादा उत्तेजना, ज्यादा आवेग, ज्यादा कामवासना जागती है उनके लिए चैतन्य केन्द्रों का ध्यान ज्यादा उपयोगी है। ये सारी वृत्तियां नाभि के आस-पास जागती हैं। काम-

वासना गोनाड में जागती है और उत्तेजना एड्रीनल के पास। उनके स्राव जब अधिक बढ़ते हैं तब यह अधिक वाली बाता होती है। अन्यथा जीवन में जितना अपेक्षित और आवश्यक है उतना हो जाता है और शेष ध्यान दूसरी बात में रहता है।

तनाव काम का

एक स्थिति यह है कि काम का तनाव इतना बढ़ जाता है कि इसके अलावा कुछ दिखता ही नहीं है। बहुत सारे लोग इस प्रकार पागल बन जाते हैं कि जिसको चाहते हैं, उसका संयोग नहीं मिलता है तो आत्महत्या कर लेते हैं। न जाने कितने युवक-युवतियां आत्महत्या करते होंगे। और भी न जाने कितने अपराध और कितनी समस्याएं पैदा होती होंगी। इसका कारण है कि उनमें नियन्त्रण करने की क्षमता नहीं है। पानी तालाब में उतना ही आए जितना उसमें समा सकता है। ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि नाले को बन्द किया जा सके। बांध है। उसमें उतना ही पानी आए जितनी उसकी क्षमता है। अतिरिक्त पानी आ जाए तो बांध टूटने का खतरा भी पैदा हो जाता है। यह माना गया है कि सामान्य आदमी में यह भाव उतना ही आए जितना उसके शारीरिक, मानसिक आदि दृष्टियों से हानि न पहुंचाते हुए अपना काम कर सके।

मानसिक संयम की साधना

जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य के इन पहलुओं पर शारीरिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से, आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से विचार नहीं किया, वे ब्रह्मचर्य के बारे में बहुत भ्रांतियां पालते हैं। शारीरिक दृष्टि से जैसे मनोविज्ञान का सिद्धांत है कि यदि आदमी कामभोग का सेवन नहीं करता है तो वह भी स्वस्थ नहीं रहता। यह एक बड़ी भ्रांति है। जो लोग ब्रह्मचारी रहते हैं, वे बहुत स्वस्थ रह सकते हैं। पर ठीक यही बात है कि उसके साथ मानसिक स्तर पर विचार करना होगा कि शरीर से वह अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं कर रहा है पर मन से निरन्तर उसका सेवन कर रहा है तो वह शरीर से बच रहा है किन्तु मन बिलकुल खुला है तो पागलपन जरूर आएगा, कठिनाई पैदा होगी। उसके साथ-साथ जब शारीरिक संयम करना है तो पहले मानसिक संयम करने की बात सीखनी होगी कि मन से कैसे संयम करें और मन से संयम करने की बात सीखनी है तो आध्यात्मिक संयम की बात सीखनी होगी कि भीतर के स्रावों को, भीतर के रसायनों को कैसे नियंत्रित कर सकें एवं विद्युत् प्रवाहों को कैसे संतुलित कर सकें। यह साधना करनी होगी। आध्यात्मिक साधना होगी तो मानसिक साधना होगी और मानसिक साधना होगी तो शारीरिक साधना होगी।

राख से ढकी आग

कुछ लोगों में यह प्रश्न होता है कि जो ब्रह्मचारी होगा, उसका शरीर तेजस्वी होगा, मजबूत और दृढ़ होगा। यह भी बहुत बड़ी भ्रांति है। अच्छा चमकता हुआ चेहरा तो उस व्यक्ति का होगा, जिसका खून ज्यादा अच्छा है। जो अच्छा खाता है, पीता है, पाचन अच्छा है और रक्त अच्छा बनता है तो उसका चेहरा चमकेगा। वैसे व्यक्ति को हमने देखा है, जो घोर अब्रह्मचारी है, उसका चेहरा ऐसा चमक रहा है मानो लहू टपक रहा हो। खोजा गया तो पता चला कि प्राचीन साहित्य में ब्रह्मचारी के लिए कहा गया कि वह राख से ढकी हुई आग है—भीतर में ज्योति है बाहर राख है। क्योंकि उसने अपनी साधना के द्वारा, तपस्या के द्वारा शरीर को इतना तपा लिया कि मांस तो बहुत सूख गया है—बाहर से रूखा लग रहा है और भीतर में ज्योति जल रही है। संतवाणी को देखा तो कबीर की वाणी में मिला कि **‘बाहर से तो कछु य न दीखै, भीतर जल रही जोत।’** बाहर से तो कुछ नहीं दिख रहा है, भीतर में ज्योति जल रही है। एक तेजपुंज जैसा हो रहा है। आचार्य भिक्षु की वाणी में मिला—**‘मांस लोही कम हुवै तपसी तणों’**—जो तपस्वी है उसके मांस भी कम होगा, रक्त भी कम होगा। वह तो बेचारा सूख जाता है। योगी का पहला लक्षण है—शरीर की कृशता।

धर्मचन्द ने एक संस्मरण सुनाते हुए कहा—कलकत्ता में मैं एक योगी से मिला। उसको आप द्वारा लिखी गई योग की कुछ पुस्तकें दीं। उसने उलट-पुलट कर देखा। कुछेक बातों पर उसका ध्यान गया। उसने पूछा—इन पुस्तकों में जो लिखा है वह अनुभव की वाणी है या केवल सिद्धांत की बात है? मैंने कहा—अनुभव की। फिर उसने पूछा—लिखने वाले का शरीर कृश है या चर्बी से भर-पूर? मैंने कहा—अत्यन्त कृश। योगी बोला—ठीक है, मैं समझ गया।

ब्रह्मचर्य की शक्ति

ब्रह्मचारी में इतना धैर्य होगा कि वह हर बात को सहन कर लेगा, अधीर नहीं बनेगा। धीर की परिभाषा करते हुए कवि कहता है—**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः**—विकार का निमित्त होने पर भी जिसका चित्त विकृत नहीं होता, वह धीर होता है। यही धृति है। ब्रह्मचर्य के द्वारा धृति का विकास होता है, मनोबल का विकास होता है। लोग आश्चर्य करते हैं कि गांधी का एक मुट्ठी भर हड्डी का शरीर था इतना दुबला-पतला, सुन्दर भी नहीं थे, चमकता हुआ चेहरा भी नहीं था। किन्तु मनोबल इतना था कि बड़ी से बड़ी सत्ता के सामने कभी झुकने या

डरने की बात नहीं आती थी। जहां मरने की बात होती—सबसे आगे होते, कभी मन में यह भय नहीं होता कि मैं मारा जाऊंगा। ब्रह्मचर्य से आत्म-विश्वास, मनो-बल पैदा होता है। यह हमारी सूक्ष्मशक्ति है ब्रह्मचर्य की। इसके द्वारा आंतरिक शक्तियों का विकास होता है। उसका शरीर से कोई बहुत गहरा संबंध नहीं है। यह ठीक है कि ब्रह्मचारी होगा तो नाड़ी-संस्थान कमजोर नहीं होगा, नाड़ी संस्थान बहुत मजबूत रहेगा। स्नायुशक्ति मजबूत रहेगी। मस्तिष्क की शक्ति बहुत मजबूत रहेगी और बहुत सक्रियता रहेगी। उसका सम्बन्ध आंतरिक शक्तियों के विकास से अधिक है, शारीरिक शक्तियों के विकास से कम है।

निष्कर्ष की भाषा में ब्रह्मचर्य का अर्थ है—सब इन्द्रियों का संयम और मन का संयम। जो व्यक्ति जननेन्द्रिय का संयम करना चाहता है उसे विशेष ध्यान देना होगा रसनेन्द्रिय के संयम पर। इसीलिए उस स्थान का नाम भी प्रेक्षाध्यान में है—स्वास्थ्य केन्द्र। यानी वह स्वास्थ्य का केन्द्र है। आदमी मन और भावना से उतना ही स्वस्थ होगा जितना कि स्वास्थ्य केन्द्र उसका अधिक नियमित होगा, वश में होगा, सधा हुआ होगा। जीभ पर संयम करना, जीभ को स्थिर करना, जीभ को शिथिल करना और मौन करना—ये सब उसमें सहायक बनते हैं। इन सबसे सहायता मिलती है।

वर्जनीय है तीसरा मार्ग

ब्रह्मचर्य की तीन अवस्थाएं हैं—

१. पूर्ण ब्रह्मचर्य।
२. सीमित ब्रह्मचर्य।
३. अब्रह्मचर्य—उच्छृंखल अब्रह्मचर्य।

ये तीन मार्ग हैं। तीसरे मार्ग को तो छोड़ना है। उच्छृंखल अब्रह्मचर्य को छोड़ना है। दो मार्ग शेष रह जाते हैं। वह अपनी शक्ति पर निर्भर है। यह लगे कि मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता हूं तो सबसे अच्छी बात है। जिसको लगे कि यह सम्भव नहीं है तो सीमित ब्रह्मचर्य की बात हो सकती है। इसे कहा जाता है अणुव्रत की भाषा में 'स्वदार-संतोष'—अपनी पत्नी में संतोष करना। न वेश्यागमन, न परस्त्रीगमन, न कन्यागमन। इनका बिलकुल परित्याग करना। यह एक प्रकार से सीमित ब्रह्मचर्य हो गया।

जब हमारा दृष्टिगमन साफ हो जाता है और हम स्वास्थ्य की दृष्टि से—शारीरिक, मानसिक और आंतरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार करते हैं तो इन दोनों में

से एक रास्ते का चुनाव हो सकता है। किन्तु तीसरे रास्ते का चुनाव तो सर्वथा नहीं हो सकता। वह हमारे लिए सर्वथा वर्जनीय होता है।

आवश्यक है ब्रह्मचर्य का ज्ञान

ये प्रश्न हैं सेक्स के विषय में। इन प्रश्नों पर बहुत आवश्यक है चर्चा। क्योंकि यह स्थिति आज के वातावरण में बहुत जटिल बनती जा रही है। और विशेषतः युवकों में, युवतियों में, बच्चों में बहुत जटिल बनती जा रही है। क्योंकि इस बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं है, कोई प्रशिक्षण नहीं है और कभी-कभी प्रशिक्षण की बात चलती है तो प्रशिक्षण में भी संकोच करते हैं। यह संकोच जैसी बात तो नहीं है। बच्चों में बहुत बुरी आदतें न पड़े क्योंकि बचपन से ही कुछ प्राकृतिक, अप्राकृतिक स्थितियां बनने लग जाती हैं। अप्राकृतिक ढंग से वीर्य का नाश करने वाला व्यक्ति सचमुच पागलपन की स्थिति में आ जाता है और शून्य हो जाता है। शक्तियां उसकी चुक जाती हैं और फिर उसकी स्नायविक दुर्बलता हो जाती है। उसकी वश की बात नहीं रहती। यदि प्रारम्भ से ही बच्चों को उसके प्रति सावधान किया जा सके तो इसके अच्छे परिणाम आ सकते हैं। इसमें अहित नहीं होता, हित की बात ही आती है किन्तु लोग समझते हैं कि यह लज्जा का विषय है। लज्जा का विषय क्या है? ज्ञान होने पर उनके हित और कल्याण की बात है और ज्ञान न होने पर शायद ज्यादा अहित की बात हो सकती है। इन सारे पहलुओं से इस विषय पर हम चिन्तन करें। यह विषय सचमुच हमारे लिए बहुत उपयोगी है।



महाव्रत और ब्रह्मचर्य

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग का प्रतिपादन किया है। उसमें पहला अंग यम है। जैन साधना पद्धति का पहला अंग महाव्रत है। महाव्रतों को मूल गुण और शेष साधना के अंगों को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतों के होने पर अन्य साधना के अंग विकसित हो सकते हैं। इनके न होने पर वे विकसित नहीं हो सकते। इसलिए महाव्रत मूल गुण हैं। सुदृढ़ आधार के बिना भवन की मंजिलों की कल्पना नहीं की जा सकती। वैसे ही मूल गुणों का स्थिर अभ्यास किए बिना धारणा, ध्यान और समाधि की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से साधना के प्रसंग में महाव्रतों का प्राथमिक स्थान है।

महाव्रत के पांच प्रकार हैं:

१. अहिंसा
२. सत्य
३. अस्तेय
४. ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह।

इनमें मुख्य स्थान अहिंसा का है। शेष सब उसी का विस्तार है। अहिंसा के दो रूप होते हैं:

१. संकल्पकृत अहिंसा
२. सिद्ध अहिंसा।

साधना के आरम्भ में साधक अहिंसा का संकल्प स्वीकार करता है। इसमें मानसिक भूमिका सुपरिपक्व नहीं होती, इसलिए बार-बार उतार-चढ़ाव आता रहता है। हिंसा के संस्कार पुनः-पुनः उदीप्त होते रहते हैं। किन्तु अहिंसा का संकल्प तथा उसकी सिद्धि का लक्ष्य होने के कारण साधक उस स्थिति का अनुभव करता हुआ भी आगे की ओर बढ़ता चला जाता है। वह निराश होकर न पीछे लौटता है और न रुकता है। आन्तरिक शुद्धि का अभ्यास करते-करते कषाय क्षीण होता है, तब अहिंसा सिद्ध हो जाती है। उस स्थिति में साधक के मन में समता का पूर्ण विकास होता है।

उसके मन में फिर शत्रु और मित्र का भेद नहीं रहता। जीवन के प्रति अनुराग और मृत्यु का भय नहीं रहता। हीन और उत्कर्ष की भावना समाप्त हो जाती है। निन्दा से ग्लानि और प्रशंसा से उत्फुल्लता नहीं होती। मान और अपमान से उसका मानसिक संतुलन नहीं बिगड़ता। उसमें सहज संयम विकसित होता है और उसमें सब जीवों को आत्मतुल्य समझने की प्रज्ञा प्रकट हो जाती है।

- अहिंसा के साथ-साथ व्यक्ति में ऋजुता प्रकट होती है, वही उसका सत्य पक्ष है।
- अहिंसा से अपनी मर्यादा का विवेक जागृत होता है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति दूसरों के स्वत्व का अपहरण नहीं करता, यही उसका अचौर्य पक्ष है।
- अहिंसक व्यक्ति अपने इन्द्रिय और मन पर अधिकार स्थापित करता है, यही उसका ब्रह्मचर्य पक्ष है।
- अहिंसक व्यक्ति आत्मलीन रहता है। वह बाह्य वस्तुओं में आसक्त नहीं होता, यही उसका अपरिग्रह पक्ष है।

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का आध्यात्मिक मूल्य असीम होता है।

ब्रह्मचर्य दो भागों में विभक्त है:

१. संकल्पसिद्ध ब्रह्मचर्य
२. सिद्ध ब्रह्मचर्य।

सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुंचना हमारा लक्ष्य है। जैन आगमों में 'घोर बंधयारी' शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है। वह दीर्घकालीन साधना से उपलब्ध होती है। राजवार्तिक के अनुसार जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्वल्पित न हो, वह घोर ब्रह्मचारी है। जिसका मन स्वप्न में भी अणुमात्र विचलित नहीं होता, उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ संकल्पों और साधनों के द्वारा इस भूमिका तक पहुंचा जा सकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रियोपरम। असत्य, चोरी आदि का सम्बन्ध मुख्यतः मानसिक भूमिका से है। ब्रह्मचर्य दैहिक और मानसिक दोनों भूमिकाओं से सम्बन्धित है। अतः उसकी पालना के लिए शरीर-शास्त्रीय ज्ञान भी आवश्यक है। उसके अभाव में ब्रह्मचर्य को समझने में भी कठिनाई होती है।

अब्रह्मचर्य के दो कारण हैं:

१. मोह
२. शारीरिक परिस्थिति।

व्यक्ति जो कुछ खाता है, उसके शरीर में प्रक्रिया चलती है। उसकी पहली परिणति रस है। वह शोणित आदि धातुओं में परिणत होता हुआ सातवीं भूमिका में वीर्य बनता है। उसके बाद वह ओज के रूप में शरीर में व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नहीं है। वह सब धातुओं का सार है। शरीर में अनेक नाड़ियाँ हैं। उनमें एक काम-वाहिनी नाड़ी है। उसका स्थान पैर के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। काम-वासना को मिटाने के लिए जो आसन किए जाते हैं, उन आसनों से इसी नाड़ी पर नियंत्रण किया जाता है। खाने से वीर्य बनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय में भी जाता है। वीर्याशय में अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तेजना होती है और काम-वासना भी अधिक जागती है। ब्रह्मचारी के लिए यह एक कठिनाई है कि वह जीते-जी खाना नहीं छोड़ सकता। जो खाता है, उसका रस आदि भी बनता है, वीर्य भी बनता है। वह अण्डकोश में जाकर संगृहीत भी होता है और वह वीर्याशय में भी जाता है। योगियों ने इस समस्या पर विचार किया कि इस परिस्थिति को विवशता ही माना जाए या इस पर नियंत्रण पाने का कोई उपाय ढूँढ़ा जाए? उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया—वीर्य केवल वीर्याशय में जाएगा तो पीछे से चाप पड़ने से आगे का वीर्य बाहर निकलेगा, फिर दूसरा आएगा और वह भी खाली होगा। खाली होना और भरना—यही क्रम रहेगा तो शरीर के अन्य तत्त्वों को पोषण नहीं मिलेगा। इसलिए उन्होंने वीर्य को मार्गान्तरित करने की पद्धति खोज निकाली। मार्गान्तरण के लिए ऊर्ध्वाकर्षण की साधना का विकास किया। उनका प्रयत्न रहा कि वीर्य वीर्याशय में कम जाए और ऊपर सहस्रार-चक्र में अधिक जाए। इस प्रक्रिया में वे सफल हुए। वीर्य को ऊर्ध्व में ले जाने से वे ऊर्ध्वरिता बन गए।

वीर्याशय पर चाप पड़ने का एक कारण आहार है। ब्रह्मचर्य के लिए आहार का विवेक अत्यन्त आवश्यक है। अतिमात्र आहार और प्रणीत आहार दोनों वर्जनीय हैं। गरिष्ठ आहार नहीं पचता इसलिए वह कब्ज करता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है, इसलिए पेट भारी रहे उतना मत खाओ और प्रणीत आहार मत करो। संतुलित आहार करो, जिससे पेट साफ रहे। खाना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक है मल-शुद्धि। मल के अवरोध से वायु बनता है। वायु जितना अधिक बनेगा उतना ही अहित होगा। वायु-विकार से अधिक बचो। वीर्य पर जब अधिक चाप होता है, तब ब्रह्मचर्य के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराध्ययन में कहा गया — 'बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउण्णिज्जा, दीहकालियं वा रोगायकं हवेज्जा, केवलिपण्णात्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा ।'

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, भेद होता है, उन्माद होता है, दीर्घकालिक रोग और आतंक भी हो जाता है तथा केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है ।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ एक साधनों की सूचना दी जाती है । उनका अभ्यास किया जाए तो वह निश्चित परिणाम लाएगा । इनमें पहला साधन वीर्य-स्तम्भ प्राणायाम है । इसका दूसरा नाम ऊर्ध्वाकर्षण प्राणायाम भी है । सिद्धासन में बैठकर पूर्णरूप से रेचन करें । रेचनकाल में चिन्तन करें, मेरा वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में व्याप्त हो रहा है । फिर पूरक करें—जालन्धर-बन्ध और मूल-बन्ध करें । पूरक-काल में पेट को सिकोड़ें और फुलाएं । सिकोड़ने और फुलाने की क्रिया को पांच-सात पूरकों में सौ बार दोहराएं ।

दूसरा ध्यान है । तीसरा अल्पकालीन कुम्भक है । चौथा प्रतिसंलीनता है ।

इन्द्रियां चंचल होती हैं, पर वह उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है । मन से प्रेरित होकर वे चंचल बनती हैं । मन जब स्थिर और शान्त होता है, तब वे अपने आप स्थिर और शान्त हो जाती हैं । मन अन्तर्मुखी बनता है, तब इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं । महर्षि पतंजलि ने इसी आशय से लिखा है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

—पातंजल योगदर्शन—साधनपाद, ५४

अपने विषयों के असम्प्रयोग में चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है । प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमों में प्रतिसंलीनता का उल्लेख है । औपपातिक सूत्र में इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच प्रकार बतलाये गए हैं ।

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता के दो मार्ग हैं—विषय-प्रचार का निरोध और राग-द्वेष निग्रह । आंखों से न देखें, यह विषय-प्रचार का निरोध है । विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाए, वहां राग-द्वेष न करना, राग-द्वेष निग्रह है । प्रतिसंलीनता का अर्थ है—अपने आप में लीन होना । इन्द्रियां सहजतया बाहर दौड़ती हैं, उन्हें अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है । उसकी प्रक्रिया यह है—

कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर में देखा जाए, वैसे ही

पीतर से सुना जाए, स्वाद लिया जाए और स्पर्श किया जाए। प्रतिसंलीनता के लिए कुम्भक की आवश्यकता होती है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—दायें नथुने में श्वास भरें। कुछ देर रोककर अन्तःकुम्भक करें। फिर बायें नथुने से श्वास को गहर निकाल दें। कुछ देर बाह्यकुम्भक करें। इस प्रकार एक बार कुम्भक होता है। प्रतिदिन बारह-तेरह बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

वीर्य की उत्पत्ति समान वायु से होती है। उसका स्थान नाभि है। इसलिए कुम्भक के साथ नाभि पर ध्यान करें। पूरक करते समय संकल्प करें कि वीर्य गाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में जा रहा है। संकल्प में ऐसी दृढ़ता लाएं कि अपनी कल्पना के साथ वीर्य ऊपर चढ़ता दिखाई देने लगे। चाप में भी सहस्रार-चक्र पर ध्यान कर संकल्प करें कि नीचे खाली हो रहा है और ऊपर भर रहा है। वीर्य नीचे से ऊपर जा रहा है। ऐसा करने से वीर्य का चाप वीर्याशय पर नहीं पड़ेगा। फलतः उसके चाप से होने वाली मानसिक उत्तेजना से सहज ही बचाव हो जाएगा। इस वैषय में यौन-शास्त्रियों के अभिमत भी मननीय हैं।

विज्ञानविशारद स्कॉट हाल का मत है—अण्ड और डिम्ब ग्रन्थियों के अन्तःस्त्राव जब रक्त के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों में प्रवाहित होते हैं तो वे युवक और युवती के सर्वांगीण विकास में जादू की तरह नव-जीवन का प्रभाव छोड़ते हैं।

हेलेनाराइट ने इसके लिए बड़ा उपयोगी मार्ग बतलाया है—आत्मविकास के लिए कोई एक कार्य अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त से दिन में कई बार यह सोचना चाहिए कि जननेन्द्रिय में केन्द्रित प्राणशक्ति सारे स्नायुमण्डल में प्रवाहित होकर अंग-प्रत्यंग को पुष्ट कर रही है। थोड़े समय में ही इस मानसिक सूचना से तन और मन नये चैतन्य से स्फूर्त एवं प्रफुल्ल हो उठेंगे।

इन साधनों के अतिरिक्त शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिंतन, व्युत्सर्ग आदि साधन भी मन को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। ब्रह्मचर्य के लिए केवल मानसिक चिंतन ही पर्याप्त नहीं है, दैहिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भोजन-सम्बन्धी विवेक और मल-शुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नहीं है। यदि उसकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चिंतन अकेला पड़ जाएगा।

मानसिक पवित्रता, प्रतिभा की सूक्ष्मता, धैर्य और मानसिक विकास की सिद्धि के लिए उक्त साधनों का अभ्यास आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का शरीरशास्त्रीय अध्ययन

शरीर-शास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रन्थियां होती हैं:

१. श्लैष्मिक या पीयूष (पिच्यूटरी)
२. कण्ठमणि (थाइरायड)
३. वृषण
४. सर्वकिण्वी(पैनक्रिया)
५. एड्रीनल या सुप्रारीनल
६. पैराथाइरायड
७. तृतीय नेत्र (पीनियल बॉडी)
८. यौवनलुप्त (थाइमस)

पीयूष ग्रन्थि

यह ग्रन्थि दिमाग के नीचे होती है। यह थाइरायड, पैराथाइरायड, एड्रीनल, पैनक्रिया व वृषण कोशों के स्रावों को नियंत्रित करती है। इस ग्रन्थि के रसों का कार्य इस प्रकार है:

प्रथम रस का कार्य—शरीर-विकास।

द्वितीय रस का कार्य—शरीर के जल या नमक का सन्तुलन।

तृतीय रस का कार्य—गुदों के कार्य का नियंत्रण।

पीयूष ग्रन्थि काम करे तो काम-शक्ति नष्ट हो जाती है।

कण्ठमणि ग्रन्थि

यह गर्दन में श्वास नली से जुड़ी हुई होती है। इसका आकार तितली के समान होता है। इसका रसस्राव अधिक होने पर शरीर को अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ़ जाती है किन्तु अन्य अंग साथ नहीं देते, इसलिए वह कमी पूरी नहीं होती। ऐसी स्थिति में दुर्बलता आ जाती है। इस ग्रन्थि से रस कम निकले तो बुढ़ापा आ जाता है, सर्दी अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रन्थि

यह पुरुष के ही होती है। यह अण्डकोश में होती है। इसके रसस्राव से पौरुष जागता है और दाढ़ी-मूँछें आती हैं।

पैनक्रिया ग्रन्थि

यह दो आंतों के बीच में होती है।

एंडीनल या सुप्रारीनल ग्रन्थि

ये दोनों ग्रन्थियां गुदों के ऊपरी हिस्से में होती हैं। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मांसपेशियों में ले जाते हैं। यह मांसपेशियों को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथाइरायड ग्रन्थि

कण्ठमणि के पास गेहूं के दाने के बराबर चार ग्रन्थियां होती हैं। इन्हें पैराथाइरायड कहा जाता है। ये रक्त में कैल्शियम, फासफोरस आदि का उचित संतुलन बनाए रखती हैं।

तृतीय नेत्र ग्रन्थि

यह मस्तिष्क में होती है।

यौवनलुप्त ग्रन्थि

यह सीने में होती है।

इनका कार्य अज्ञात है। प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध वृषण ग्रन्थियों से है। वृषण ग्रन्थियां दो स्राव उत्पन्न करती हैं—बहिःस्राव और अन्तःस्राव। धमनियों द्वारा वृषण-ग्रन्थियों से रस-रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनों स्रावों के उत्पादक अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते हैं।

वीर्य अण्डकोश में उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराएं हैं—एक वीर्याशय, जो मूत्राशय और मलाशय के मध्य में है—में जाती है। दूसरी रक्त में मिलकर शरीर में दीप्ति, मस्तिष्क में शक्ति, उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त में अधिक जाती है। वह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक है। वीर्याशय खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा में इतना चला जाता है कि दूसरी को पर्याप्त रूप से मिल ही नहीं पाता। फलतः दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। वीर्याशय खाली न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य का प्रश्न है।

जीवन के दस स्थान हैं:

१. मूर्धा
२. कण्ठ
३. हृदय
४. नाभि
५. गुदा
६. वस्ति
७. ओज
८. शुक्र
९. शोणित
१०. मांस

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते हैं:

- १.२. दो शंख—पटपड़ियां
- ३.५. तीन मर्म—हृदय, वस्ति और सिर
६. कण्ठ
७. रक्त
८. शुक्र
९. ओज
१०. गुदा ।

ओज इन दोनों प्रकारों में है। वह (वीर्य) धातु का अन्तिम सार नहीं, किन्तु सातों धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अन्तिम सार है। उसका केन्द्रस्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है।^१

ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।
हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थितिनिबन्धनम् ॥

इससे दो बातें निष्पन्न होती हैं:

१. ओज का सम्बन्ध केवल वीर्य से नहीं है।
२. वीर्य का स्थान अण्डकोष है, जबकि ओज का स्थान-हृदय है।

ओज और वीर्य में तीसरा अंतर यह है कि वीर्य का मध्यम परिणाम ही

लाभप्रद होता है। वह हीन मात्रा में हो तो क्षीणता आदि दोष बढ़ते हैं। वह अति मात्रा में हो तो उससे-मैथुन की प्रबल इच्छा और शुक्राश्मरी (शुक्र-जनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है।^१

ओज जितना बढ़े उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि, शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है।^३

वीर्य-व्यय के दो मार्ग हैं:

१. जननेन्द्रिय
२. मस्तिष्क।

भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड़ देते हैं। अतः उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढ़ती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम-वासना घटती है।

काम-वासना के कारण जननेन्द्रिय द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक हानिकारक प्रभाव नहीं होता। मन में मोह और संस्कारों में अशुद्धि उत्पन्न होती है। इसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा।

जो आदमी अब्रह्मचर्य में अति आसक्त होता है, उसकी वृषण ग्रन्थियों में आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते हैं। इसका फल होता है कि अन्तःस्राव उत्पन्न करने वाला अवयव उचित सामग्री के अभाव में अपना काम करने में अक्षम रह जाता है। फलतः वह सर्व धातुओं और सर्वांग पर होने वाले अन्तःस्राव के महत्वपूर्ण प्रभावों से वंचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर में उत्पन्न होते हैं।

आयुर्वेद के ग्रंथों में इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। सात क्यारियों में सातवीं क्यारी में बड़ा गर्त हो या उसमें से जल निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले सम्पूर्ण जल उस गड्ढे में भरने लगेगा या उस क्यारी को पूर्ण करने में व्यय होगा। यही स्थिति अति-मैथुन आदि के कारण होने

१. सुश्रुत, ११/१२ : अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं, शुक्राश्मरीमपि ।

२. ११/१२ : ओजे वृद्धौ हि देहस्य, तुष्टिपुष्टिबलोदय ।

वाले शुक्रक्षय में होती है। निश्चित ही सम्पूर्ण रस प्रथम शुक्र-धातु की पुष्टि में लगता है किन्तु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नहीं पाता। परिणामतया अन्य वस्तुओं की पुष्टि रस से हो नहीं पाती और शरीर में विभिन्न विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य से इन्द्रिय-विजय और इन्द्रिय-विजय से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वस्तुतः इन्द्रिय-विजय और ब्रह्मचर्य दो नहीं हैं। ब्रह्मचर्य की इन्द्रिय-विजय से एकात्मकता है, इसलिए उससे शरीर की स्थिरता, मन की स्थिरता और अनुद्विग्नता, अदम्य उत्साह, प्रबल सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण विकसित होते हैं।

ब्रह्मचर्य से हमारे स्थूल अवयव उतने प्रभावित नहीं होते, जितने सूक्ष्म अवयव होते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं होता। इस मत में सचाई का अंश भी है पर उसी स्थिति में जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति में हो। चिन्तन के प्रवाह को काम-वासना की लहरों से मोड़कर अन्य उदात्त भावनाओं की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्वव-शता की परिस्थिति में विकास पाता है। उसका शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बड़ा लाभदायी प्रभाव पड़ता है।

बहुत सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, फिर भी नहीं कर पाते। ऐसा क्यों होता है? अब्रह्मचर्य की भावना सहज ही क्यों उभर आती है? इस प्रश्न का उत्तर कर्मशास्त्रीय भाषा में यह है कि यह सब मोह के कारण होता है। पर शरीरशास्त्र की भाषा में कर्म का स्थान नहीं है। उसके अनुसार कामवाहिनी नाड़ियों में रक्त का संचरण होने से अब्रह्मचर्य की भावना उभरती है। उसका संचरण नहीं होता तो वह भावना नहीं उभरती। संचरण कम होने से वह भावना कम उभरती है और संचरण अधिक होने से वह भावना अधिक उभरती है। इस संदर्भ में हम उस तथ्य की ओर संकेत कर सकते हैं कि ब्रह्मचारी के लिए गरिष्ठ या दर्पक आहार का निषेध क्यों किया गया?

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियंत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियंत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है पर यह प्रथम उपाय नहीं है। प्रथम है—ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ़ श्रद्धा होना। दूसरा है—वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोड़ने की साधना। इसमें ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियंत्रण शक्ति से नहीं।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारम्भ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे, वैसे ही उस स्थान में मन को एकाग्र कर कोई शुभ-संकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शान्त हो जाए।

पेट में मल, मूत्र और वायु का दबाव बढ़ने से काम-वाहिनी नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। खान-पान और मल-शुद्धि में सजग रहना ब्रह्मचर्य की बहुत बड़ी शर्त है। वायु विकार न बढ़े, इस ओर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है।

काम-जनक अवयवों के स्पर्श से भी वासना बढ़ सकती है। इन सारी बातों का ब्रह्मचर्य के परिपार्श्व में बहुत महत्त्व है, पर इन सबसे जिसका अधिक महत्त्व है, वह है वीर्य या रक्त-प्रवाह को मोड़ने की प्रक्रिया। उसकी कुछ विधियां इस प्रकार हैं:

ऊर्ध्वाकर्षण

(क) सिद्धासन में बैठिए। श्वास का रेचन कीजिए—बाहर निकालिए, बाह्य कुम्भक कीजिए—श्वास को बाहर रोके हुए रहिए। इस स्थिति में संकल्प कीजिए कि वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में घूम रहा है। उसका प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।

संकल्प इतनी तन्मयता से कीजिए कि वैसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे। जितनी देर सुविधा से कर सकें, यह संकल्प कीजिए। फिर पूरक कीजिए—श्वास को अन्दर भरिए। पूरक की स्थिति में मूलबन्ध कीजिए—गुदा को ऊपर की ओर खींचिए तथा जालन्धर-बन्ध कीजिए—टुड्डी को तानकर कण्ठकूप में लगाइए। फिर पेट को सिकोड़िए और फुलाइए। आराम से जितनी बार ऐसा कर सकें, कीजिए, फिर रेचन कीजिए। यह एक क्रिया हुई। इस अभ्यास को बढ़ाते-बढ़ाते सात या नौ बार दोहराएं।

(ख) पीठ के बल चित लेट जाइए। सिर, गर्दन और छाती को सीध में रखिए। शरीर को बिलकुल शिथिल कीजिए। मुंह को बन्द कर पूरक कीजिए। पूरक करते समय यह संकल्प कीजिए कि काम-शक्ति का प्रवाह जननेन्द्रिय से मुड़कर मस्तिष्क की ओर जा रहा है। मानसिक चक्षु से यह देखिए कि वीर्य रक्त के साथ ऊपर जा रहा है। कामवाहिनी (जननेन्द्रिय के आस-पास की) नाड़ियां हल्की हो रही हैं और मस्तिष्क की नाड़ियां भारी हो रही हैं।

पूरक के बाद अन्तःकुम्भक कीजिए—श्वास को सुखपूर्वक अन्दर रोके रहिए। फिर धीमे-धीमे रेचन कीजिए।

पूरक और रेचन का समय समान और कुम्भक का समय उससे आधा होना चाहिए। यह क्रिया बढ़ाते-बढ़ाते पन्द्रह-बीस बार तक करनी चाहिए। वीर्य के ऊर्ध्वारोहण का संकल्प जितना दृढ़ और स्पष्ट होगा, उतनी ही काम-वासना कम होती जाएगी।

कुक्कुटासन

इससे काम-वाहिनी स्नायुओं पर दबाव पड़ता है। उससे मन शक्तिशाली और प्रशान्त होता है। काम-वासना क्षीण होती है।

मन की स्थिरता होने से वायु की स्थिरता होती है। वायु की स्थिरता से वीर्य की स्थिरता होती है। वीर्य की स्थिरता से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है। कहा भी है:

*मनःस्थैर्यात् स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुःस्थिरो भवेत् ।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं, पिण्डस्थैर्यं च जायते ॥*

ऊर्ध्वाकर्षण की प्रक्रिया केवल पुरुषों के लिए है। स्त्रियों के लिए संकल्प शुद्धि का अभ्यास सहायक हो सकता है।

ब्रह्मचर्य के साधक-बाधक तत्त्व

ब्रह्मचर्य : दस स्थान

दो प्रकार की घटनाएं मिलती हैं—निमित्त से प्रभावित होने वाली घटनाएं और निमित्त की उपेक्षा कर उपादान पर चलने वाली घटनाएं। जैन आगम उत्तराध्ययन के सोलहवें अध्ययन में मुनि के लिए ब्रह्मचर्य के दस स्थान बतलाये गए हैं। वे निमित्तों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं—

१. निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का प्रयोग न करे।
२. केवल स्त्रियों के बीच कथा न कहे।
३. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।
४. स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर न देखे।
५. स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, विलाप आदि के शब्द न सुने।
६. पूर्व क्रीड़ाओं का अनुस्मरण न करे।
७. प्रणीत आहार न करे।
८. मात्रा से अधिक न खाए, न पीए।
९. विभूषा न करे।
१०. शब्द, रूप, रस, गंध, और स्पर्श में आसक्त न हो।

प्रकरण आचारांग का

ब्रह्मचर्य के इन दस स्थानों में उपादान की विशेष चर्चा नहीं है। आचारांग सूत्र का एक पूरा प्रकरण है, जिसमें निमित्त की चर्चा विशेष नहीं है, उपादान की चर्चा प्रमुख है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला अनगार—

१. निर्बल भोजन करे।
२. ऊनोदरिका करे, कम खाए।
३. ऊर्ध्व स्थान (घुटनों को ऊंचा और सिर को नीचा) कर कायोत्सर्ग करे।
४. ग्रामानुग्राम विहार करे।
५. यथाशक्ति आहार का परित्याग (अनशन) करे।

६. स्त्रियों के प्रति दौड़ने वाले मन का त्याग करे ।
७. काम-कथा न करे ।
८. वासनापूर्ण दृष्टि से न देखे ।
९. परस्पर कामुक भावों का प्रसारण न करे ।
१०. ममत्व न करे ।
११. शरीर की साज-सज्जा न करे ।
१२. मौन करे ।
१३. मन का संवरण करे ।
१४. सदा पाप का परिवर्जन करे ।

निमित्त : उपादान

एक ओर प्रश्न है उपादान का तो दूसरी ओर प्रश्न है निमित्त का । एकान्त दृष्टि कभी निमित्तों की ओर झुक जाती है तो कभी उपादान की ओर । सचाई तब सामने आती है जब हम सापेक्ष दृष्टि से विचार करते हैं । हम न केवल उपादान को पकड़ें और न केवल निमित्तों को पकड़ें । ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए इन दोनों की सापेक्षता अपेक्षित है ।

*केवलं न निमित्तानि, साधनानि न केवलं ।
सापेक्षता भवेदेषां, ब्रह्मचर्यस्य सिद्धये ॥*

स्थूलभद्र का निदर्शन

ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए हमें दोनों की सापेक्षता को समझना है । घटनाओं की मीमांसा करें या निमित्तों की । विचित्र घटनाएं घटित हुई हैं । स्थूलभद्र का प्रसंग हमारे सामने आता है । एक ओर कहा गया—मुनि वेश्या के मोहल्ले में गोचरी भी न जाए । इसे ब्रह्मचर्य का बाधक तत्त्व मान लिया गया । दूसरी ओर स्थूलभद्र वेश्या के मोहल्ले में ही नहीं गए, वेश्या के घर में गए । वे वेश्या के घर एक दो दिन नहीं रहे किन्तु चातुर्मासिक प्रवास किया । आचार्य की आज्ञा से चतुर्मास किया, अनाज्ञा से नहीं । ब्रह्मचर्य के संदर्भ में एक निर्देश है—प्रणीत भोजन न करे । स्थूलभद्र ने वेश्या के घर रहते हुए प्रतिदिन षड्रस युक्त भोजन किया । वेश्या ने हाव-भाव से स्थूलभद्र को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न किया । स्थूलभद्र के सामने उसने कामोद्दीपक गीत-संगीत और नृत्य प्रस्तुत किया । वेश्या कोशा ने पूर्व भोग की स्मृतियां भी दिलाई ।

चित्रशाला
 विशाला
 मदनालय-सी
 मलयाचल सी
 मोहक सी
 मादक सी
 अतीत स्मृति सी
 प्रियंकरा
 कल्पना-सी मनोहरा

.....

 याद करो याद करो
 पुनः सहवास करो
 तिमिर का नाश करो ।
 यौवन है दो दिन का
 सार यही जीवन का ।
 बने हो क्यों योगिराज ।
 उचित नहीं महाराज !
 आलंबन संहित करो ।
 निराशा का आवरण
 दूर करो
 याद करो
 याद करो
 पुनः सहवास करो ।

वेश्या का यह भावपूर्ण अनुरोध भी स्थूलभद्र के संकल्प को नहीं हिला सका । जिस कोशा वेश्या के साथ स्थूलभद्र बारह वर्ष तक रहे, भोगों में डूबे रहे, वह वेश्या स्थूलभद्र के संकल्प के समक्ष पराजित हो गई । किसे बाधक तत्त्व कहा जाए और किसे साधक तत्त्व ?

जरूरी हैं नियम

हम इस सचाई को समझे—जब तक मनोबल का विकास नहीं होता तब तक

निमित्तों पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। जो इन पर ध्यान नहीं देता, उसके लिए विचलन या स्खलन होना अनिवार्य है। जब मनोबल का विकास हो जाता है तब नियम बदल जाते हैं। हम नियम और व्यवस्था को पकड़ कर न बैठ जाएं। नियम जरूरी हैं पर जब व्यक्ति एक भूमिका को पार कर जाता है तब वे नियम कृतकृत्य हो जाते हैं। जब साधक सिद्ध हो जाता है, साधकत्व उपलब्ध हो जाता है तब नियम गौण बन जाते हैं। जब तक साधकत्व प्रबल नहीं है तब तक निमित्त बलवान् बना रहेगा। एक बलवान् बनता है तो दूसरा निष्क्रिय बन जाता है। जब उपादान बलवान् होता है तब निमित्त गौण हो जाता है और जब निमित्त बलवान् होता है तब उपादान गौण हो जाता है।

निमित्त से उपादान की ओर

ऐसी कितनी घटनाएं हैं! सुदर्शन सेठ की घटना को देखें। महारानी उसे विचलित करना चाहती है किन्तु सुदर्शन अडिग है। आचार्य भिक्षु ने इस घटना का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। विजय सेठ और विजया सेठानी की घटना को पढ़ें। वर्तमान में देखें तो महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के संदर्भ में बड़े विचित्र प्रयोग किए। आचार्य कृपलानी ने लिखा—‘गांधी ऐसे विचित्र प्रयोग कर रहे हैं। मेरा ऐसा विश्वास है कि मैं अगर गांधी को अनाचार करता हुआ देख भी लूं तो एक बार सोचूंगा—मेरी आंखे मुझे धोखा दे गईं। वे ऐसा नहीं कर सकते।’ तेरापंथ समाज के वरिष्ठ व्यक्ति थे सुगनचंदजी आंचलिया। उनका मनोबल बहुत दृढ़ था। उन्होंने भी ब्रह्मचर्य के अनेक प्रयोग किए। इनकी धृति बहुत प्रशंस्य थी। जो लोग ऐसी स्थिति में चले जाते हैं, उनके लिए निमित्त अकिंचित्कर बन जाते हैं। दूसरी ओर निमित्तों की घटनाएं भी कम नहीं हैं। थोड़ा-सा निमित्त मिला, व्यक्ति मोम की तरह पिघल गया। दोनों प्रकार की घटनाएं हमारे सामने हैं। प्रश्न है—हम क्या करें? क्या ब्रह्मचर्य के जो दस स्थान बतलाए गए हैं, उनकी उपेक्षा करें? नहीं, उनकी उपेक्षा न करें। हम अभ्यास करें निमित्तों से उपादान की ओर जाने का। जब तक अभ्यास परिपक्व न हो तब तक निमित्तों की उपेक्षा न करें।

परिपक्वता बढ़ाएं

एक घटना है। एक व्यक्ति ने पहले अपने आपको पकाया। ब्रह्मचर्य को सिद्ध किया। फिर उसका परीक्षण किया। वह पहले दिन वेश्या के पास गया। वेश्या उसके सामने बैठ गई। वह वेश्या के रंग-रूप और लावण्य को देखता रहा किन्तु उसके मनोबल में न्यूनता नहीं आई। दूसरे दिन वह वेश्या के पास बैठ गया फिर भी मन

विचलित नहीं हुआ। चौथे दिन उसने वेश्या का स्पर्श किया, उसके शरीर से सटकर बैठ गया फिर भी मन विचलित नहीं हुआ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास चला। उसके बाद उसने वेश्या को अर्द्धनग्न अवस्था में देखा और एक दिन वेश्या को निर्वस्त्र कर अपनी गोद में बिठा लिया। उसका मन अडोल बना रहा। ब्रह्मचर्य सिद्ध हो गया।

इस घटना का निष्कर्ष निकाला गया—वह व्यक्ति संन्यासी होना चाहता था इसलिए अपने आपको साध रहा था। हम इस प्रश्न पर विचार करें और अपनी परिपक्वता को बढ़ाएं। इस दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण नियम हैं, उनमें से कुछ पर विमर्श करें, यह अपेक्षित है।

आहार और ब्रह्मचर्य

भोजन के संदर्भ में दो नियम हैं—प्रणीत और अतिमात्र भोजन न करें। शायद ही अध्यात्म का कोई ऐसा विषय होगा, जिसके साथ भोजन की बात न जुड़ी हुई हो। भोजन बहुत प्रभावित करता है। तंत्र-शास्त्र में इस विषय पर बहुत नई दृष्टियां मिलती हैं। एक नया दर्शन तंत्र-शास्त्र में दिया गया—पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ पांच कामेन्द्रियों का सम्बन्ध है। उपस्थ का सम्बन्ध है जीभ के साथ। रसनेन्द्रिय को जितना पोषण मिलेगा उतना पोषण मिलेगा जननेन्द्रिय को। रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय में गहरा सम्बन्ध है इसलिए ब्रह्मचर्य के संदर्भ में भोजन पर विचार करना बहुत जरूरी है।

बहुत मनन के बाद यह नियम बनाया गया—प्रणीत पान-भोजन का वर्जन करें और अतिमात्र भोजन का वर्जन करें। ज्यादा भी न खाएं और रोज-सेज गरिष्ठ भोजन भी न करें। दूध, दही, घी आदि जितनी भी विकृतियां हैं, वे शरीर के लिए आवश्यक भी होती हैं किन्तु वे बाधक भी बनती हैं। आयुर्वेद का एक सिद्धांत है—बल बढ़ाना है तो दूध पीओ। दूसरा सिद्धांत यह आया है—दूध मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं है, वह केवल बच्चों के लिए आवश्यक है। दूध हृदय-रोग को भी बढ़ाता है। किसे सच मानें? दुनिया में विचारों की इतनी संकुलता है कि किसे स्वीकारा जाए और किसे अस्वीकारा जाए? एक विचार को पकड़कर बैठ जाएं तो बड़ी समस्या हो जाती है इसीलिए यह कहा गया—यत् सारभूतं तदुपासनीयम्—जो सारभूत है, उसकी उपासना करें।

ध्यान दें उपादान पर

अनेकान्त दर्शन का तात्पर्य है—हम किसी एक विचार को पूरा सत्य मानकर न बैठें। हम यह मानें—दुनिया में विचारों की बहुत संकुलता है। समाधान यही

है—हम स्वयं सत्य खोजें। विचारों को सुनें, जानें और स्वयं खोज करें। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में भी विचारों की कमी नहीं है। इन्द्रियों का संयम कैसे करें? कितना करें? क्यों करें? वर्तमान युग में ही नहीं, महावीर के युग में भी इस संदर्भ में अनेक विचित्र विचार उभरे थे। सूत्रकृतांग सूत्र को पढ़ने वाला इस सचाई को जानता है। ब्रह्मचर्य पर सबसे अधिक बल भगवान् महावीर ने दिया। महावीर ने सब विचारों का सार प्रस्तुत किया, निमित्तों का भी और उपादान का भी। इस संदर्भ में एक बात कहने में संकोच नहीं होता—आज जितना ध्यान केवल निमित्तों पर है उतना उपादान पर नहीं दिया जा रहा है। मानसिक शुद्धि कैसे करें? मन पवित्र कैसे बना रहे? उस पर बहुत ध्यान नहीं दिया जा रहा है इसलिए जितना विकास होना चाहिए उतना नहीं हो पा रहा है।

ब्रह्मचर्य का लाभ है—प्रतिभा का विकास। ब्रह्मचर्य का लाभ है—धृति का विकास। यह स्वीकार करना चाहिए—जैसे-जैसे ब्रह्मचर्य की आंतरिक साधना परिपक्व होती है वैसे-वैसे धृति का विकास होता है, प्रतिभा का विकास होता है। ब्रह्मचर्य से सिद्ध होता है प्रातिभ ज्ञान, धृति, अपने मन एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने की क्षमता। शरीर के विकास के साथ-साथ इन आंतरिक शक्तियों के विकास का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

आराधना साधक तत्त्वों की

भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य के साधक-बाधक तत्त्वों की सुन्दर विवेचना दी। हम बाधक तत्त्वों का निरसन कर साधक तत्त्वों की आराधना करें। निमित्तों का निरन्तर ध्यान रखते हुए उपादान की दिशा में अपनी यात्रा को आगे बढ़ाएं। इससे चित्त और अन्तःकरण की निर्मलता बढ़ती चली जाएगी। इसके लिए प्रयोग भी बहुत अपेक्षित है। शरीर-शास्त्र का अध्ययन करने वाला व्यक्ति जानता है—वृत्ति कहां पैदा होती है? कौन उसे उभारता है? उसकी क्रियान्विति कहां होती है और उसके निवारण के कौन-कौन से स्थान हैं? इनके बारे में जितनी स्पष्ट जानकारी आज मिल रही है शायद उतनी पहले भी थी, यह नहीं कहा जा सकता। इन दस शताब्दियों में तो ऐसा युग आया कि इन नियमों की जानकारी बहुत कम रह गई। इस विषय को एक प्रकार से लज्जनीय विषय मान लिया गया। जानकारी के अभाव में भी समस्याएं पैदा होती हैं। आचार्य भिक्षु ने 'शील की नवबाड़' ग्रन्थ लिखा। उस ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य के साधक-बाधक तत्त्वों का सुन्दर विश्लेषण है।

ब्रह्मचर्य : ध्यान के प्रयोग

ब्रह्मचर्य के विकास में ध्यान के कुछ प्रयोग बहुत उपयोगी हैं। हम आनन्द केन्द्र पर अर्ह का ध्यान करते हैं। आज वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह माना जाने लगा है कि इससे वृत्तियों पर नियन्त्रण होता है। दर्शन-केन्द्र, ज्योति-केन्द्र—ये सारे नियन्त्रण करने वाले केन्द्र हैं। इन पर ध्यान करने से वृत्तियों का दमन नहीं, उदात्तीकरण होता है। दमन करना, रोकना एक बात है, उदात्तीकरण उससे बिल्कुल भिन्न है। प्रश्न है—क्या दस-बीस या पचास वर्ष बात जाने पर भी केवल नियंत्रण की ही बात रहेगी? इस दिशा में विकास होना चाहिए। हम ऐसा प्रयास करें—नियन्त्रण स्वयं उदात्तीकरण की दिशा में आगे बढ़ता चला जाए। हमारी चेतना अधिक से अधिक स्वाध्याय, ध्यान और आत्म-गवेषणा में लगे। जैसे-जैसे चेतना का नयोजन इन सबमें होगा, अन्य बातें गौण होती चली जाएंगी। विकास की दिशा में आगे बढ़ते हुए, वर्जनाओं और निमित्तों का ध्यान रखते हुए अपनी चेतना को पवित्र और निर्मल बनाते चले जाएं, ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाएगा। ब्रह्मचर्य केवल उपस्थ का संयम ही नहीं है। उसका अर्थ है—इन्द्रियों का संयम। उसका व्यापक अर्थ है आचार। जीवन का आचार, ब्रह्मचर्य का आचार या विद्या का पूरा विकास होगा तो जीवन में एक नया तेज और एक नई अनुभूति का आविर्भाव होगा।



ब्रह्मचर्य के प्रयोग

आचारांग सूत्र ध्यान का गंभीर ग्रंथ है। उसमें साधना के रहस्यों का रहस्यपूर्ण भाषा में प्रतिपादन किया गया है। आचार केवल ऊपर का क्रियाकांड नहीं होता, वह आत्मा की अनुभूति से उपजा हुआ एक व्यवहार होता है, जिसकी पृष्ठभूमि में रहती है आत्मा की अनुभूति और बाहर से निकलता है आचरण एवं व्यवहार। आचारांग में अन्तर की अनुभूति एवं बाह्य व्यवहार का रहस्यपूर्ण प्रतिपादन है। उसमें सबसे पहले अहिंसा का प्रतिपादन हुआ है। उसके बाद अपरिग्रह और अकाम— ब्रह्मचर्य का विवेचन उपलब्ध होता है।

अर्थ अकाम का

काम व्यक्ति को एक दिशा में ले जाता है और अकाम दूसरी दिशा में। हम ब्रह्मचर्य को एक सीमा में न बांधें। पांच इन्द्रिय और मन की चंचलता— इन सबका विषय कामना के साथ जुड़ा हुआ है। काम नाक, आंख, कान— सबको प्रेरित करता है। नाक की गंध का कामना के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। हमारा एक आदिम मस्तिष्क माना जाता है, जिसे एनीमल ब्रेन (Animal brain) कहते हैं, वह गंध से बहुत प्रभावित होता है इसीलिए एक साधक के लिए सुगंधित द्रव्यों से बचना बहुत जरूरी बतलाया गया है।

पांच इन्द्रियों और मन—ये सब कामना के साथ जुड़े हुए हैं। अकाम का अर्थ है—पांच इन्द्रियों का निग्रह, मन का निग्रह। कामना आत्मा के साथ जुड़ा हुआ शरीर का इतना बड़ा तत्व है कि उस पर नियंत्रण या निग्रह करना सामान्य बात नहीं है। कामना की तरंग न उठे, ऐसी स्थिति बन जाए तो यह बहुत सौभाग्य की बात है किंतु ऐसा होना अत्यन्त कठिन है।

अकाम-सिद्धि : प्रयोग

भगवान् महावीर ने अकाम सिद्धि का उपदेश ही नहीं दिया, उसके उपाय भी बतलाए। आचारांग सूत्र के पांचवें अध्ययन के एक आलापक में अकाम-सिद्धि के प्रयोग निर्दिष्ट हैं। अकाम-सिद्धि या ब्रह्मचर्य की सिद्धि केवल धारणा से सम्भव नहीं है। उसके लिए प्रयोग के एक क्रम से गुजरना होगा।

ब्रह्मचर्य—सिद्धि या अकाम—सिद्धि का एक उपाय है—निर्बल आहार । शरीर में बहुत बल पैदा करने वाला आहार न करें । रूसी वैज्ञानिक प्रोफेसर आरोन बेल्कीन ने बतलाया—हमारे मस्तिष्क में तीन सौ 'न्यूरो पेप्टाइड' हार्मोन्स पैदा होते हैं । बेल्कीन की धारणा है—प्रत्येक विचार के साथ एक न्यूरो पेप्टाइड हार्मोन्स पैदा हो जाता है । इसका अर्थ है—जितने विचार हैं उतने ही न्यूरो पेप्टाइड हार्मोन्स बनते हैं । बेल्कीन ने यह मान लिया—जैसे अन्तःस्त्रावी ग्रंथियां होती हैं वैसे ही मस्तिष्क एक बहुत बड़ी अन्तः स्त्रावी ग्रन्थि है, जो इतने रसायनों को पैदा करता है । वे रसायन हमें प्रभावित करते हैं ।

आहार और व्यवहार का सम्बन्ध

आज के आहारशास्त्री बतलाते हैं—जैसा हमारा आहार होता है वैसे ही न्यूरो ट्रांसमीटर (Nyarotransmitter) बनता है और वही न्यूरो ट्रांसमीटर हमारे व्यवहार का निर्धारण करता है । आहार का संबंध मस्तिष्क में पैदा होने वाले रसायनों के साथ है, यह बात बहुत पुरानी है पर उसकी व्याख्याएं आज हो रही हैं । आज हर बात के साथ आहार का संबंध जोड़ा जा रहा है । यदि हमें मन की प्रसन्नता, चित्त की निर्मलता, मस्तिष्क का हल्कापन और विचारों की पवित्रता को बनाए रखना है तो सबसे पहले आहार पर ध्यान देना होगा । जो व्यक्ति इस बात पर ध्यान नहीं देता, वह शायद अपने जीवन के साथ खिलवाड़ करता है । यह मानना चाहिए— जीवन में सबसे ज्यादा जरूरी और सबसे ज्यादा उपेक्षित विषय है आहार । महावीर ने ब्रह्मचर्य की साधना का पहला प्रयोग बतलाया—निर्बल आहार करो, सुपाच्य और हल्का आहार करो, गरिष्ठ पदार्थ मत खाओ ।

ऊनोदरी

ब्रह्मचर्य की सिद्धि का एक उपाय है—ऊनोदरी करना, कम खाना, ठूस-ठूस कर न खाना । जो व्यक्ति ज्यादा खाएगा, अधिक मात्रा में खाएगा, उसका अपान वायु दूषित होगा, मल-क्रिया बिगड़ेगी । नाभि से लेकर नीचे तक जो स्थान है वह अपान का स्थान है । उस स्थान से सारी गड़बड़ियां पैदा होती हैं । जिस व्यक्ति को गैस-ट्रबल है, वह जानता है, गैस की बीमारी से क्या क्या समस्याएं पैदा होती हैं ? अपान अशुद्ध रहता है, इसका अर्थ है—अमाशय, पक्वाशय, बड़ी आंत का जो पूरा भाग है, वह शुद्ध नहीं रहता । जब अपान वायु अशुद्ध होती है तब बुरे विचार, बुरे स्वप्न, हिंसा का भाव, वासना का भाव उद्दीप्त होता रहता है । अपान वायु की अशुद्धि का मुख्य कारण है—अति भोजन । ज्यादा खाने का अर्थ ही है कब्ज

होना। जितना खाया जाता है, वह पचता नहीं है, जमा होता चला जाता है, वह धीरे-धीरे सड़ान्ध पैदा करने लग जाता है, अशुद्ध बन जाता है। इस स्थिति में चित्त और मन की पवित्रता प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

ब्रह्मचर्य—सिद्धि के ये दो उपाय—निर्बल आहार और अल्प आहार—भोजन से संबद्ध हैं। हम आहार का विवेक करें। आहार का विवेक सम्यक् होगा तो साधना सम्यक् रूप से संपादित होती चली जाएगी।

कार्योत्सर्ग

ब्रह्मचर्य की सिद्धि का एक उपाय है—खड़े खड़े कार्योत्सर्ग करना। ब्रह्मचर्य की साधना का यह महत्वपूर्ण उपाय है—पुरुष दोनों हाथों को ऊंचा कर ध्यान करे। स्त्री के लिए यह निषिद्ध है। बीदासर के एक श्रावक हुए हैं नेमीचंदजी सेखानी। वे दोनों को ऊंचा कर खड़े-खड़े सामायिक किया करते थे। खड़े खड़े ध्यान करना साधना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें ऊर्जा का एक वलय बनता है। ऊर्जा एक स्थान पर ज्यादा संचित नहीं होती। हमारे शरीर की यह प्रकृति है कि ऊर्जा नीचे की ओर ज्यादा जाती है। इस ऊर्जा को ऊपर की ओर ले जाना बहुत जरूरी है। ऊर्जा को ऊपर ले जाने के लिए सीधा होना जरूरी है। चाहे लेटकर सीधे हों या खड़े-खड़े। यह एक उपाय है ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण का, ब्रह्मचर्य की सिद्धि का।

ममत्व का विच्छेद

ब्रह्मचर्य की सिद्धि का एक उपाय है—ममत्व का विच्छेद। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज के साथ जीता है इसलिए समाज के साथ लगाव का होना बहुत प्रासांगिक है। महावीर ने ब्रह्मचारी मुनि के लिए विधान किया—एक गांव में ज्यादा मत रहो। यदि मुनि एक गांव में अधिक समय तक रहे तो संभव है, लगाव हो जाए, ममत्व हो जाए। उग्र विहार की बात साधना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। नव-कल्प विहार का विधान साधुत्व का अनिवार्य नियम नहीं है। यह साधना की दृष्टि से संभावना के वर्जन का नियम है। बहुत सारे विधान निमित्तों से बचने के लिए किए जाते हैं। एक सूत्र दिया गया—ग्राम-अनुग्राम विहार करो, परिचय कम होगा, लगाव कम होगा, ममत्व की गांठ को घुलने का मौका कम मिलेगा।

तपस्या : दिशा-परिवर्तन

ब्रह्मचर्य की साधना का यह महत्वपूर्ण सूत्र है—अममत्व या अप्रतिबद्धता। इतनी साधना के बाद भी यह लगे—ममत्व की ग्रंथि खुल नहीं रही है तो आहार को एकदम छोड़ दो, तपस्या प्रारम्भ करो। तपस्या से ममत्व की ग्रंथि पर एक

आघात लगता है, वह टूटने लग जाती है ।

ब्रह्मचर्य की सिद्धि का एक भावात्मक उपाय बतलाया गया—मन की साधना करो, मन का जिस ओर लगाव है, उस ओर से मन को मोड़ दो । संकल्प को दूसरी दिशा में प्रवाहित करो ।

आसन

ब्रह्मचर्य की सिद्धि का एक उपाय है आसन । इसका अर्थ है—जो ऊर्जा बनती है, उसको संतुलित कर देना । आसन के साथ कुछ विशेष बातें जुड़ी हुई होती हैं । आसन से अन्तः स्रावी ग्रंथियों एवं नाडीतंत्र का, शरीर के सारे अवयवों का संतुलन बन जाता है । सर्वांगासन केवल पैरों को ऊंचा करने वाला आसन ही नहीं है, केवल स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाला आसन ही नहीं है, यह अंतःस्रावी ग्रंथियों को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण आसन है । कुछ आसन ऐसे हैं, जो शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से उपयोगी होते हैं । कुछ आसन ऐसे हैं, जो सीधे नाडी-तंत्र और ग्रंथितंत्र को प्रभावित करते हैं । थायराइड ग्रंथि हमारे शरीर-रचना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है । वह भावना से भी जुड़ी हुई है । कहा जा सकता है—जिसकी थायराइड ग्रंथि गड़बड़ा गई, एक प्रकार से उसका सारा जीवन ही गड़बड़ा गया । सर्वांगासन से थायराइड ग्रंथि प्रभावित होती है । एक आसन है शशांक आसन । यह केवल पेट को ही प्रभावित नहीं करता, एंड्रीनल गलेण्ड को भी प्रभावित करता है । ब्रह्मचर्य की साधना में इन आसनों का महत्व स्वतः स्पष्ट है ।

सुकुमारता छोड़ें

सुकुमारता को छोड़ना, यह भी एक उपाय है । सुकुमारता के त्याग के लिए श्रम जरूरी है । श्रम चाहे विहार का हो या आसन का हो ।

महावीर ने कहा—सौकुमार्य को छोड़ो । जहां ज्यादा सुकुमारता आएगी वहां काम को निमंत्रण होगा । कोमल शय्या, कोमल गद्दे और बिछौने—ये सुकुमारता के जितने चिह्न हैं, वे काम को सीधा निमंत्रण देने वाले हैं । जो व्यक्ति इस सौकुमार्य में डूबा रहेगा, उसका न ज्ञान में मन लगेगा, न ध्यान और स्वाध्याय में मन लगेगा । उसका मन उचटा-उचटा रहेगा । वह कोई काम नहीं कर पाएगा ।

सुकुमारता से सबसे ज्यादा प्रभावित होता है हमारा मस्तिष्क । मोहनीय कर्म की अट्टाईस प्रकृतियां हैं । उनमें से एक भी प्रकृति की तरंग उठती है तो हमारा मस्तिष्क प्रभावित हो जाता है, उसमें विकृति आ जाती है । जो व्यक्ति अपने मन

को निर्मल रखना चाहता है, मस्तिष्क को पवित्र रखना चाहता है, उसे बहुत सावधान रहना पड़ेगा, जागरूक रहना होगा, बार-बार आत्म निरीक्षण और आत्म चिन्तन करना होगा। इतना तीव्र प्रयत्न करने पर ही काम से अकाम की दिशा में प्रस्थान संभव बन सकता है। हम इस दिशा में प्रयत्न न करें तो अकाम सिद्धि या ब्रह्मचर्य-सिद्धि का स्वप्न कभी सफल नहीं बन पाएगा।

यथार्थ का धरातल

हमें यथार्थ के आधार पर चलना चाहिए, केवल उपदेश या भावना के आधार पर नहीं। यह एक यथार्थ है—जितनी जागरूकता रहेगी उतनी ही पवित्रता और निर्मलता बढ़ेगी। जितनी जागरूकता में कमी आएगी उतनी ही निर्मलता और पवित्रता प्रभावित होगी। महावीर ने अकाम सिद्धि के जो प्रयोग बतलाए हैं, वे काम में लिये जाएं तो जागरूकता की समस्या नहीं होगी। आदमी चलता है, हवा का एक झोंका आता है, बाधा खड़ी हो जाती है। यदि उसका संकल्प मजबूत होता है तो बाधा टिक नहीं पाती। जिसका संकल्प मजबूत है, जिसमें प्रयोग करने की प्रबल भावना है, वह काम के द्वारा उपस्थित होने वाली बाधाओं को धीरे-धीरे पार करता चला जाएगा और एक दिन अकाम की स्थिति को पा लेगा। यदि प्रयोग नहीं चलेंगे, आत्मालोचन और आत्म निरीक्षण का क्रम नहीं चलेगा तो मन पर मैल जमता चला जाएगा और वह इतना गाढ़ा बन जाएगा कि उसमें बदबू आने लगेगी। कहा गया—तीर्थकरों की सांस कमल की सुगंध जैसी होती है। केवल तीर्थकरों की ही नहीं, उन सब व्यक्तियों की सांस अच्छी होती है, जिनके विचार अच्छे और पवित्र होते हैं। गंध के आधार पर भी आदमी के चरित्र को जाना जा सकता है। ब्रह्मचर्य की सिद्धि के जो प्रयोग हैं, उन्हें काम में लें, हमारे विचार पवित्र बनते चले जाएंगे, कामनाओं, वासनाओं और निषेधात्मक भावों पर नियंत्रण सधता चला जाएगा, हम अपने इष्ट की सिद्धि को प्राप्त हो जाएंगे।

काम की समस्या और संयम

संयम है अति से बचना

मनुष्य बहुत बार कल्पना के जगत् में जीता है। कल्पना अच्छी भी है और बुरी भी है। जो कल्पना यथार्थ तक पहुंच जाए वह अच्छी है और जो कल्पना केवल कल्पना ही बनी रहे, यथार्थ के आकाश को छू न पाए, वह बुरी है। मनुष्य जितनी कल्पनाएं करता है उतना ही वह उनसे ग्रस्त होता जाता है। स्मृति भी जरूरी है और कल्पना भी जरूरी है, किन्तु अतिस्मृति और अतिकल्पना—दोनों खतरनाक हैं। पता नहीं, मनुष्य को अति में जाना पसन्द क्यों है? वह किसी भी पक्ष में अति से क्यों नहीं बच पाता? वह हर बात में अति करता है, करना चाहता है। मन में एक प्रकार की मूर्च्छा के कारण वह संयम नहीं कर पाता। संयम का अर्थ है—अति से बचना। यह जीवन का महत्वपूर्ण सूत्र है। भोजन का संयम करना—इसका यह अर्थ नहीं है कि भोजन न किया जाए। भोजन के बिना प्राण नहीं टिकते। भोजन के बिना जीवन-यात्रा नहीं चल सकती। भोजन जरूरी है, किन्तु जब उसकी अति होती है, तब समस्याएं उत्पन्न होती हैं। भोजन-संयम का अर्थ है—भोजन की अति से बचना। शरीरधारी काम का भी सेवन करता है। इच्छाओं की पूर्ति भी करता है। शरीर और मन की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वह हर संभव प्रयत्न भी करता है। किन्तु जीवन के किसी भी क्षेत्र में जहां अति का प्रयोग होता है वहां कठिनाइयां पैदा होती हैं।

कामवृत्ति : कोणिक सचाई

मानसशास्त्री मानते हैं कि जीवन में 'काम' आवश्यक है। फ्रायड ने इसका बहुत समर्थन किया। सभी मनोवैज्ञानिकों ने इसकी आवश्यकता महसूस की है। 'काम' मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। उसकी पूर्ति नहीं होती है तो आदमी पागल हो जाता है। बहुत बार यह प्रश्न आता है कि मनुष्य यदि ब्रह्मचारी बना रहे तो वह पागल हो जाएगा। इस बात में सचाई नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जीवन की स्वाभाविक मांगों की यदि पूर्ति नहीं होती है तो एक प्रकार का उन्माद या पागलपन उत्पन्न हो जाता है और आदमी बेचैन हो जाता है। हर सचाई का एक

कोण होता है। ये प्रतिपादित सचाइयां कोणिक सचाइयां हैं। ये सार्वभौम नहीं हैं। बहुत बार आदमी अर्धसत्य को पूर्णसत्य मान लेता है। यहां भ्रांति का निर्माण हो जाता है। अर्धसत्य को यदि अर्धसत्य की दृष्टि से देखा जाए तो समस्या को सोचने-समझने का और उसका समाधान खोजने का अवसर मिलता है और यदि अर्धसत्य को पूर्णसत्य मान लिया जाता है तो अनेक नयी समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

काम जीवन का एक भाग है। इस सचाई को स्वीकार करते हुए भी हम इस बात को न भूलें कि जिस व्यक्ति ने काम के आनन्द से भी बड़े आनन्द की ऊर्जा को उत्पन्न कर लिया, उसके लिए काम निकम्मा बन गया। जो व्यक्ति काम के आनन्द के स्रोत को बंद कर देता है किन्तु आनन्द के महास्रोत का द्वार उद्घाटित करना नहीं जानता, वह ब्रह्मचारी नहीं बन सकता, पागल बन सकता है। ब्रह्मचारी वही होता है जो काम-जनित सुख के द्वार को रोकने के साथ-साथ सुख के एक महाद्वार को उद्घाटित कर देता है, जिससे आनन्द का सतत प्रवाह प्रवहमान रहता है। तब काम-सुख व्यर्थ बन जाता है, उसकी सार्थकता समाप्त हो जाती है। शरीर में एक ग्रन्थि है—एड्रीनल और दूसरी है—पिच्यूटरी। ये दोनों ग्रन्थियां बहुत महत्वपूर्ण हैं। ये हमारे व्यवहार और आचरण को प्रभावित करती हैं। एड्रीनल ग्रन्थि के कारण ही कामवासना, उत्तेजना, आवेग आदि-आदि जागृत होते हैं। पिच्यूटरी ग्रन्थि के द्वारा यदि उस एड्रीनल ग्रन्थि को नियंत्रित या प्रभावित कर दिया जाता है, निष्क्रिय बना दिया जाता है तो सारी काम-वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं, आवेग कम हो जाते हैं, और अपूर्व आनन्द की, वृत्ति जागृत हो जाती है। तब काम अकाम बन जाता है। किन्तु जो व्यक्ति पिच्यूटरी या दर्शन-केन्द्र को जागृत करना नहीं जानता और ब्रह्मचारी बनने की बात करता है या प्रयत्न करता है तो वह सचमुच पागल की अवस्था तक पहुंच जाता है। मनोविज्ञान का भी यही सिद्धान्त है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी एककोणीय है। यह इस अर्थ में सत्य है कि पिच्यूटरी ग्रन्थि को जागृत किए बिना कोई ब्रह्मचारी होने का प्रयत्न करता है तो वह निश्चित ही विषाद से भर जाता है, अर्ध-उन्माद की स्थिति में चला जाता है।

कामदेव की पत्नी रती विलाप करते हुए कहती है—शिव ने अपने तीसरे नेत्र के द्वारा, प्रलयकारी नेत्र के द्वारा काम को भस्म कर डाला, राख का ढेर बना डाला।

शिव कौन नहीं ?

प्रत्येक आदमी शिव है। कोई भी अशिव नहीं है। जिसने अपने शिवत्व को

प्रकट कर डाला, जिसने अपने महादेव को जगा दिया, जिसकी आत्मा में सुषुप्त शिव जाग गया, वह आदमी स्वयं शिव बन गया। साधना और ध्यान करने वाला, आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने वाला हर व्यक्ति शिव होता है। जिसने प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों को संयत कर अपने भीतर समाये हुए चैतन्य के स्पन्दनों का थोड़ा-सा साक्षात्कार किया है, उस व्यक्ति ने अपने शिवत्व को जगाने का अभ्यास किया है। जिसका शिवत्व जाग गया, वह हर आत्मा शिव बन गया।

प्रत्येक साधक शिव होता है और वह दर्शन-केन्द्र या तृतीय नेत्र को सक्रिय बनाकर होता है। वह अपनी पिच्यूटरी ग्लैण्ड को सक्रिय कर एंड्रीनल को प्रभावित करता है, उसके स्त्राव को नियन्त्रित करता है। दूसरे शब्दों में, वह स्त्राव को बदल देता है और काम से अकाम बन जाता है। उसका काम उस तीसरे नेत्र से भ्रम हो जाता है, समाप्त हो जाता है।

काम-विजय की प्रक्रिया

काम-विजय की भी एक प्रक्रिया है। जो इस प्रक्रिया को जाने बिना काम-विजय का प्रयत्न करता है वह कभी सफल नहीं होता। परिणाम विपरीत होता है और वह विक्षिप्त बन जाता है। इस एककोणीय सत्य को हम उसी कोण से देखें, समझें। हम यदि यह मान लें कि कोई ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकता या काम की मांग को पूरी किए बिना कोई अपना विकास नहीं कर सकता, पागलपन से मुक्त नहीं हो सकता तो यह बहुत बड़ा भ्रम होगा, असत्य का पोषण होगा। हम इस कोण को न भूलें कि साधना के लिए कामवासना का नियन्त्रण कितना अपेक्षित है।

ऊर्जा का उपयोग कहाँ ?

ध्यान-साधक के लिए आहार का संयम भी बहुत अपेक्षित है। जो व्यक्ति अपनी सारी शक्ति भोजन के पाचन आदि में खपा देता है, वह ध्यान नहीं कर सकता, ध्यानी नहीं हो सकता। ध्यान का लाभ उसे कभी नहीं मिल सकता। ऊर्जा सीमित है। वह जितनी है उतनी ही है। उसका उपयोग चाहे भोजन पचाने में किया जाए या मस्तिष्कीय विकास में किया जाए। अतिरिक्त भोजन करने वाले व्यक्ति की सारी ऊर्जा आंतों में खप जाती है। यदि इतनी ऊर्जा पर्याप्त नहीं होती तो मस्तिष्क में काम आने वाली ऊर्जा भी वहाँ खप जाती है। मस्तिष्क शरीर का दो प्रतिशत भाग है। किन्तु उसे विद्युत् चाहिए बीस प्रतिशत। इतनी विद्युत् मिलने पर ही वह अच्छा काम कर सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु अति भोजन करने वाला व्यक्ति बीस प्रतिशत विद्युत् को भी भोजन पचाने में खपा देता है। मस्तिष्क को

विद्युत् नहीं मिलती। वह बड़ा काम नहीं कर सकता। इतिहास में नहीं मिलता कि किसी पेटू आदमी ने बड़ा काम किया हो। बड़ा काम उन्हीं लोगों ने किया है जो भोजन के प्रति संयत थे। कुछेक व्यक्ति भोजन के प्रति सावधान नहीं होते। वे मानते हैं—शरीर को चलाने के लिए भोजन अपेक्षित है। उनका मन कार्य में इतना संलग्न हो जाता है कि वे भूल जाते हैं कि भोजन किया या नहीं।

आइंस्टीन प्रयोगशाला में थे। वे किसी गुत्थी को सुलझाने में तल्लीन थे। भोजन-का समय हुआ। पत्नी प्रयोगशाला में एक मेज पर भोजन रखकर चली गई। उसने सोचा—काम से निवृत्त होकर भोजन कर लेंगे। आइंस्टीन काम में लगे रहे। इतने में ही उनसे मिलने एक मित्र आया। आइंस्टीन ने आंख उठाकर भी उसकी ओर नहीं देखा। वह कुछ देर वहां बैठा। उसने प्रतीक्षा की पर आइंस्टीन ने ध्यान नहीं दिया। वह भूखा था। उसने देखा—एक मेज पर भोजन पड़ा है। वह गया और भरपेट भोजन कर, हाथ धोकर चला गया। कुछ समय पश्चात् आइंस्टीन की गुत्थी सुलझी। वे भोजन के लिए मेज पर आए। देखा, बर्तन में कुछ भी नहीं है। थोड़ा पानी पड़ा है। सोचा—सम्भव है मैंने भोजन कर लिया, अन्यथा वे बर्तन खाली नहीं रहते। वे पुनः अपने काम में लग गए। भूख का भान ही नहीं रहा।

हम उन्हें भोजन के प्रति लापरवाह, असावधान या अनासक्त कुछ भी कहें। वे थे इस शताब्दी के महान् बौद्धिक व्यक्ति। उनकी सारी ऊर्जा ज्ञान-केन्द्र की ओर प्रवाहित रहती थी। उसे काम-केन्द्र की ओर प्रवाहित होने का कम अवसर मिलता था। यही कारण है कि उनका ज्ञान-केन्द्र जागृत हो सका और वे विश्व को अनुपम देन दे सके।

प्राण-ऊर्जा का ऊर्ध्व-अधोगमन

जिस व्यक्ति की प्राण-ऊर्जा नीचे की ओर, काम-केन्द्र की ओर प्रवाहित होती है उसमें निम्नतम वृत्तियां जागती हैं और जिसकी प्राण-ऊर्जा ऊपर की ओर, ज्ञान-केन्द्र की ओर प्रवाहित होती है उसमें श्रेष्ठ वृत्तियां जागती हैं। वह बहुत नये काम कर सकता है। प्राण-ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन का पथ है—सुषुम्णा का मार्ग। प्राण-ऊर्जा जब ऊर्ध्वयात्रा करती है तब उदात्त-वृत्तियां जागृत होती हैं। वह व्यक्ति ज्ञान, व्यवहार और आचार के क्षेत्र में बहुत आश्चर्यकारी विकास कर लेता है।

ब्रह्मचर्य : प्राण-ऊर्जा का प्रज्वलन

आज एक बड़ा संकट उपस्थित होता है। बहुत सारे लोग मनोविज्ञान की ओट लेकर अब्रह्मचर्य को उपादेय बतलाते हैं। उनका कहना है कि काम स्वाभाविक

वृत्ति है। उसके सेवन में कोई दोष नहीं है। बाहरी दृष्टि से कोई दोष नहीं है—यह मान भी लें क्योंकि एक अब्रह्मचारी आदमी शरीर से स्वस्थ हो सकता है, वह मांसल और सुन्दर लग सकता है। उसका चेहरा तेजस्वी और दीप्तिमान् हो सकता है; किन्तु आन्तरिक दृष्टि से वह खोखला ही होता है।

आचार्यश्री दिल्ली में थे। पत्रकार गोष्ठी थी। एक पत्रकार ने पूछा—साधु ब्रह्मचारी होते हैं। उन्हें बहुत तेजस्वी होना चाहिए। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट होना चाहिए। चेहरे पर चमक होनी चाहिए। पर आपके साधुओं में यह सब दिखाई नहीं देता। मैंने उस समय कुछ समाधान भी दिया। पर मेरे मन में एक प्रश्न पैदा हो गया कि क्या पत्रकारों का प्रश्न समुचित है? मैंने उसी दिन से खोज प्रारंभ की। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि शरीर पुष्ट होना, रक्त का लाल होना, शरीर में चमक-दमक होना—इन सब से ब्रह्मचर्य का कोई संबंध नहीं है। जो व्यक्ति इन सबका संबंध ब्रह्मचर्य के साथ जोड़ता है, वह बहुत बड़ी भ्रान्तियां पैदा करता है। मेरा यह कथन सुनने में अटपटा-सा लगता हो, पर है यह एक सचाई। मैं महावीर को उद्धृत करूं, बुद्ध और कबीर को उद्धृत करूं, आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी को उद्धृत करूं—इन सब महात्माओं ने साधक का लक्षण जो बतलाया है, वह विचित्र है। महावीर ने ब्रह्मचारी के लिए एक विशेषण प्रयुक्त किया है—‘भासच्छन्नेव जायते-जसे’—ब्रह्मचारी राख से ढकी अग्नि की भांति होता है। बाहर से कुछ नहीं दिखता, भीतर में ज्योति प्रज्वलित रहती है। ब्रह्मचारी वह होता है जिसके भीतर प्राण की ज्वाला प्रज्वलित होती है और ऊपर से वह रूखा-सूखा-सा लगता है। ठीक इससे उल्टा होता है भोगी आदमी। वह बाहर से चमक-दमक वाला होता है और भीतर से सर्वथा शून्य। उसकी प्राण-ज्वाला बूझ जाती है। सारी प्राण-विद्युत् चुक जाती है।

प्राण-ऊर्जा का प्रभाव

जीवन का मूल आधार है—प्राण-शक्ति, वाइटेलिटी। जीवन का आधार रक्त और मांस नहीं है। लोगों ने यह मान रखा है कि शरीर में रक्त अच्छा रहेगा तो चमक रहेगी, अन्यथा नहीं। किन्तु इसका शक्ति के साथ सीधा संबंध नहीं है। वर्तमान शताब्दी में एक महान् शक्तिशाली व्यक्ति हुआ। उसका नाम था महात्मा गांधी। वे राजनीति और अध्यात्म के संधि-क्षेत्र में हुए। एक विचारक ने महात्मा गांधी को देखकर लिखा—‘मैंने दुनिया में इतने भदे आदमी में इतना सौन्दर्य नहीं देखा।’ यह बात बहुत अच्छी लगी। महात्मा गांधी का वजन केवल सौ पाउंड

था। शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र था। किन्तु उनका सौन्दर्य इतना प्रभावक था कि विश्व के बड़े-बड़े व्यक्ति उनके पीछे फिरते थे। उनके साथ पांच-दस मिनट बैठकर, उनसे बातचीत कर अपने आपको धन्य मानते थे। इस विशाल सौन्दर्य का कारण क्या था? उसका एकमात्र कारण था—संयम। महात्मा गांधी ने इतना कठोर संयम साधा, संयममय जीवन व्यतीत किया कि प्रत्येक व्यक्ति उनके साथ रहने को ललचाता था और उनसे बात कर अपने आपको गौरवान्वित मानता था।

जिस व्यक्ति में प्राण की ऊर्जा होती है, संयम और त्याग का तेज होता है, वह व्यक्ति बाहर से कुछ भी न होने पर भी भीतर में अत्यन्त प्राणवान् और तेजस्वी होता है। वह जीवन्त और शक्तिशाली होता है। अब्रह्मचर्य या असंयम की सबसे बड़ी हानि यही है कि आदमी का ढांचा बाहर से वैसा का वैसा रह जाता है किन्तु भीतर से सब कुछ चुक जाता है। बहुत बार ये ढांचे, पुतलियां जो बाहर से बहुत सजीव और प्राणवान् लगती हैं, आदमी को भ्रम में डाल देती हैं। जैन पुराणों में आता है कि राजा ने अपनी पुत्री मल्लिक की एक ऐसी सजीव पुतली बनाई कि देखने वाले सारे लोग उसे साक्षात् मल्लिक कुमारी ही समझ लेते। वे उससे बात करने की चेष्टा करते। वह वास्तव में थी संगमरमर की बनी निर्जीव पुतली। बाहरी ढांचे आकर्षक होते हैं, पर भीतर में कुछ भी नहीं होता। ये ढांचे भ्रम पैदा करने वाले होते हैं।

संयम का मूल्य : प्राण-ऊर्जा का संचय

इसी प्रकार जो शरीर हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ दिखाई देता है, पर जिसमें प्राण-ऊर्जा नहीं होती, वह निष्प्राण और शक्तिहीन होता है। उससे बड़ा कार्य नहीं किया जा सकता। उसकी शक्तियां चुक जाती हैं। इसलिए उसका कोई विशेष मूल्य नहीं होता। अब्रह्मचर्य का अति-सेवन करने वाला व्यक्ति अपनी प्राण-शक्ति का अतिरिक्त व्यय करता है। उससे उसकी कर्मजा-शक्ति समाप्त हो जाती है। जैसे सूजन आया हुआ शरीर भारी और स्थूल दीखता है, वैसे ही व्यक्ति बाहर से हरा-भरा दिखाई दे सकता है, पर वह होता है—शक्तिशून्य। मैं यह कहना नहीं चाहता कि मांस, हड्डियां, रक्त आदि का कोई महत्त्व नहीं है। इनका अपना महत्त्व है, मूल्य है। व्यक्ति इनकी रक्षा करता है। किन्तु हमारे शरीर में सबसे ज्यादा रक्षणीय है—प्राण-विद्युत्। उसका प्रवाह व्यर्थ न जाए। वह बाहर न जाए। खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करते समय हाथों की अंगुलियों को शरीर से सटाकर रखें, जिससे कि अंगुलियों से निकलने वाली विद्युत् पुनः शरीर में चली जाए। यदि हाथ को

शरीर से सटाकर नहीं रखते हैं तो विद्युत् बाहर चली जाती है, व्यर्थ हो जाती है। प्राण-ऊर्जा का संचय बहुत महत्त्व का है। उससे हम अतिरिक्त कार्य कर सकते हैं। प्राण-ऊर्जा का काम इतना ही नहीं है कि व्यक्ति अपना जीवन जी सके। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राण-ऊर्जा से कोई विशेष कार्य किया जाए। वही आदमी जीवन में बड़ा काम कर सका है जिसने हाथ और पैरों का संयम साधा है, जिसने कान और आंख का संयम साधा है और जिसने जीभ और प्राण का संयम साधा है, जिसने मन और वाणी का संयम साधा है और जिसने इस संयम की प्रक्रिया से प्राण-ऊर्जा को बाहर जाने से रोका है और उसका अतिरिक्त संचय किया है, ऐसे व्यक्ति के मन में नयी स्फुरणाएं होती हैं और वही व्यक्ति अनूठा काम करने में सफल हो पाता है। यह है संयम का एक मूल्य। इसी संदर्भ में संयम की बात अच्छी तरह समझ में आ सकती है।

संयम की साधना का सूत्र यथार्थ के जगत् में जीने का सूत्र है। यह सूत्र व्यक्ति को कामना और कल्पना से ऊपर उठाकर यथार्थ के धरातल पर ला खड़ा करता है। जिस व्यक्ति में प्राण-ऊर्जा प्रबल होती है, जिसका मनोबल बहुत दृढ़ होता है। वह व्यक्ति काल्पनिक समस्याओं में नहीं उलझता। काल्पनिक समस्याएं उसी व्यक्ति को सताती हैं जिसका मनोबल दुर्बल होता है और मनोबल उसी व्यक्ति का दुर्बल होता है जिसकी प्राण-ऊर्जा न्यून होती है, संयम कम होता है।

संयम से प्राण-ऊर्जा का संवर्धन होता है। जिसकी प्राण-ऊर्जा प्रबल होती है, वह कभी किसी स्थिति में विचलित नहीं होता। जिस दिन प्राण-ऊर्जा के संचय की चेतना जागेगी, काम-वृत्ति की समस्या सुलझ जाएगी।



काम परिष्कार के सूत्र

काम मौलिक मनोवृत्ति है। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य की बहुत सारी शक्तियों का विकास कामशक्ति के द्वारा होता है। इसमें पूरी सचाई नहीं है और सभी मनोवैज्ञानिक इसमें एक मत नहीं हैं। फ्रायड ने इस पर बहुत बल दिया तो यूंग ने इसे अस्वीकार कर दिया। उत्तरवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने भी फ्रायड का समर्थन नहीं किया।

संघर्ष का हेतु

मनुष्य में अनेक शक्तियां हैं। उनमें एक है कामशक्ति, काम की ऊर्जा। काम एक वृत्ति है। उसके साथ इसलिए लड़ना है, संघर्ष करना है कि वह उच्छृंखल न बने, निरंकुश न बने। उस पर नियन्त्रण आवश्यक है। नियंत्रण स्थापित करने के लिए संघर्ष आवश्यक है। संघर्ष के बिना उस पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता। वृत्ति अपना दबाव डालती है और निरंकुश होना चाहती है। व्यक्ति यदि काम की निरंकुशता को सहन कर लेता है तो उसकी जीवन-यात्रा सुचारु रूप से चल सकती है। नियन्त्रण के लिए पुरुषार्थ का प्रयोग करना होता है। काम अपने पर नियंत्रण चाहता नहीं और व्यक्ति उस पर नियन्त्रण करना चाहता है, तब संघर्ष होना अनिवार्य है। यह संघर्ष का हेतु है।

साधन को शक्तिशाली बनाएं

प्रश्न है, कामवृत्ति के साथ कैसे लड़ें? जब तक लड़ाई का सही ढंग ज्ञात नहीं होता तब तक विजय प्राप्त नहीं होती और पराजित होना पड़ता है। विजय पराजय में बदल जाती है। जो लड़ाई के सम्यक् तरीके जानता है, जिसके साधन सशक्त हैं वह विजयी बनता है। जो लड़ाई के सूत्रों से अनजान है, जिसके साधन सशक्त हैं, वह विजयी बनता है। जो लड़ाई के सूत्रों से अनजान है, जिसके साधन कमजोर हैं, वह लड़ नहीं सकता और यदि लड़ता है तो पराजित हो जाता है। यह जय और पराजय का सिद्धांत है।

कामवृत्ति के साथ लड़ना है तो साधनों को शक्तिशाली बनाना होगा और कामवृत्ति के स्वरूप को समझना होगा।

आदमी किसी भी अवस्था में चला जाए, उसे भूख लगती है, प्यास लगती है। भूख और प्यास के न लगने पर माना जाता है कि व्यक्ति बीमार है, रोगग्रस्त है। जीवन-यात्रा के लिए भूख भी जरूरी है और प्यास भी जरूरी है। भूख और प्यास पर विजय पाना है तो उनके हेतु को जानना होगा। वे क्यों और कैसे उत्पन्न होते हैं, यह जानना होगा। हमारे आचरण और व्यवहार के दो हेतु हैं—आंतरिक और बाह्य। भूख और प्यास की उत्पत्ति का मूल हेतु है आन्तरिक। बाह्य हेतु उनका उद्दीपन कर सकता है, पैदा नहीं कर सकता।

कामवृत्ति का मूल हेतु

इसी प्रकार कामवृत्ति का मूल हेतु आन्तरिक है। बाह्य वातावरण उसको उद्दीप्त कर सकता है, पैदा नहीं कर सकता। कामवृत्ति परिस्थितिजनित नहीं होती। परिस्थिति उसके उद्दीपन में सहयोगी हो सकती है, होती है। इस वृत्ति की जनक है आन्तरिक परिस्थिति। अन्तर में काम की तरंग उठती है और वह समूचे शरीर-तंत्र को प्रभावित कर देती है, नाड़ीतंत्र को उत्तेजित कर डालती है। बाह्य परिस्थिति यदि अनुकूल होती है तो उत्तेजना बढ़ती है और व्यक्ति वैसा आचरण कर डालता है। कामवृत्ति का मूल उत्पादक है आंतरिक वातावरण। इसके साथ-साथ हमें शारीरिक और कार्मिक—इन दो आधारों पर भी विचार करना होगा। कामवृत्ति के जागने का शारीरिक आधार भी होता है और कार्मिक आधार भी होता है। कर्म-संस्कार भी इसमें काम करते हैं। कामवृत्ति का मूल कारण है—मोह के परमाणु। कर्मशास्त्र की भाषा में इन्हें वेद के परमाणु कहा जाता है। ये कामवृत्ति के मूल घटक तत्त्व हैं। उस तरंग को स्थान देने वाली मानसिक दशा भी बनती है। उसका शारीरिक आधार है 'लिम्बिक सिस्टम'। यह हमारे मस्तिष्क का ही एक हिस्सा है। इसके साथ जुड़ा हुआ है इसी का एक भाग हाइपोथेलेमस। साथ-साथ उस पर नियन्त्रण करने का आधार भी हमारे पास है। वह है 'लम्बर रीजन' जो मेरुदण्ड की प्रणाली में होता है। यह कामवृत्ति पर नियन्त्रण करता है। हमें और अधिक ध्यान देना होगा, विचार करना होगा कि यह वृत्ति कैसे पैदा होती है, शरीर के किस अवयव विशेष पर प्रभाव डालती है और किस प्रकार इस पर नियंत्रण पाया जा सकता है ?

नियन्त्रण की एक टेक्निक होती है। संसार में निरुपाय कुछ भी नहीं है। उपाय को जान लेने पर सब सहज-सरल हो जाता है। आदत को बदला जा सकता है। उस पर नियन्त्रण किया जा सकता है। आवश्यकता है सही उपाय की

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा

कामवृत्ति पर नियंत्रण पाने के लिए समवृत्ति श्वासप्रेक्षा को काम में लेना होगा

योग पद्धति में जिसे अनुलोम-विलोम प्राणायाम कहा जाता है, वही प्रेक्षाध्यान पद्धति में समवृत्ति श्वास प्रेक्षा के नाम से अभिहित है। एक नथुने से श्वास लेना और दूसरे नथुने से बाहर निकालना, यही है समवृत्ति श्वास प्रेक्षा। हम बाएं नथुने से श्वास लेते हैं तब हमारा दायां मस्तिष्क प्रभावित होता है और जब हम दाएं नथुने से श्वास लेते हैं तब बायां मस्तिष्क प्रभावित होता है। मस्तिष्क का बायां पटल भाषा, विज्ञान, गणित आदि के लिए उत्तरदायी है और दायां पटल आध्यात्मिक शक्तियों के लिए उत्तरदायी है। जब हम बाएं नथुने से श्वास लेते हैं तब दायां मस्तिष्क-पटल सक्रिय होता है, सृजनात्मक शक्तियों का केन्द्र सक्रिय हो जाता है। जब हम दाएं नथुने से श्वास लेते हैं तब बौद्धिक क्षमताओं का केन्द्र सक्रिय हो जाता है। एक विद्यार्थी मंदबुद्धि है। वह गणित, भाषा आदि विषयों में कमजोर है। यदि वह विद्यार्थी दाएं नथुने से श्वास लेने का अभ्यास करे तो उसकी क्षमताएं बढ़ने लग जाएंगी। जिस विद्यार्थी में भावात्मक क्षमताएं कम हैं, अन्तर्दृष्टि और सूझबूझ कम है, वह यदि बाएं नथुने से श्वास लेने का अभ्यास करे तो उसकी वे क्षमताएं वृद्धिगत हो सकती है।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का सूत्र है। इससे दोनों प्रकार की क्षमताएं विकसित होती हैं, क्योंकि इसमें बारी-बारी से दोनों नथुनों से श्वास लिया जाता है।

आनंद केन्द्र पर ध्यान

कामवृत्ति पर नियन्त्रण पाने का एक बिन्दु है, स्थान है मेरुदण्ड में, जिसे 'लंबर रीजन' कहा जाता है। तेरह चैतन्य-केन्द्रों में एक है आनन्द-केन्द्र। इसका स्थान है फुफ्फुस के नीचे और हृदय के पास। आनन्दकेन्द्र पर ध्यान करने से कामवृत्ति नियंत्रित होती है, उत्तेजना पर नियंत्रण होता है। एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि कामवृत्ति की उत्तेजना जिन अवयवों में होती है वे नियंत्रण के अवयव नहीं हैं। वे केवल अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। कामवृत्ति की उत्तेजना आंतरिक प्रतिक्रिया है। आनन्द-केन्द्र पर ध्यान करने से वह उत्तेजना नियंत्रित हो सकती है।

अन्तर्यात्रा

कामवृत्ति को वश में करने का दूसरा उपाय है—अन्तर्यात्रा। जब हम चेतना को रीढ़ की हड्डी के निचले सिरे से लेकर ज्ञानकेन्द्र (मस्तिष्क) में ले जाते हैं तब समूचे मेरुदंड की प्रणाली पर हमारा कंट्रोल हो जाता है। मेरुदंड बहुत महत्वपूर्ण अवयव है। अनेक स्वचालित प्रवृत्तियों का नियंत्रण मेरुदंड के पास है। मस्तिष्क बड़ा है। वह सब पर नियन्त्रण करने में सक्षम है। वह मेरुदंड के कार्य में सीधा

हस्तक्षेप नहीं करता। जो अनैच्छिक प्रवृत्तियाँ हैं, उनका नियंत्रण मेरुदंड से होता है। मेरुदंड को हम अन्तर्यात्रा के द्वारा साध लेते हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि हम स्वचालित वृत्तियों पर भी नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं। एक बार के नियंत्रण से काम नहीं चलता। वृत्तियाँ बार-बार उठती हैं तो उन पर बार-बार चोट करनी पड़ती है। तभी वे नियंत्रित हो पाती हैं। वृत्तियाँ बहुत जिद्दी होती हैं। बार-बार उठती रहती हैं, क्योंकि उनका उपादान भीतर पड़ा है, भीतर जमा है। किंतु उपाय के द्वारा उनकी इस जिद्दी प्रकृति को मिटा सकते हैं।

एक महिला कुत्ते को प्रशिक्षित कर रही थी। पति ने देखा। उसने पत्नी से कहा—‘व्यर्थ का श्रम क्यों कर रही हो? कुत्ता इतना जिद्दी है कि वह तुम्हारी एक बात भी नहीं मानेगा। पत्नी बोली—भूल गए। शादी हुई तब तुम कितने जिद्दी थे?’

उत्पत्ति स्रोत

किसी को भी उपाय के द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है। कामवृत्ति क्यों पैदा होती है, इस पर विचार करना जरूरी है। मनोविज्ञान ने भी उसकी उत्पत्ति का आन्तरिक कारण माना है। दर्शन की भाषा में वह आन्तरिक कारण है कर्मशरीर, कर्म-संस्कार। प्रत्येक प्राणी के साथ कर्म-संस्कारों का अटूट खजाना है। वृत्तियों का वही उत्पत्ति-स्रोत है, उत्स है। काम की वृत्ति भी वहीं से निकलती है। वह मोहकर्म से पैदा होती है। यदि हम वृत्ति को शांत और अनुशासित रखना चाहें तो हमें मोहकर्म की निर्जरा करनी होगी।

संवर और निर्जरा

निर्जरा महत्त्वपूर्ण शब्द है। इस वृत्ति के लिए दो शब्दों पर ध्यान देना जरूरी है। वे दो शब्द हैं—संवर और निर्जरा। ये युद्ध के शक्तिशाली शस्त्र हैं। शत्रु को आगे न बढ़ने देना, शत्रु को अपनी सीमा में न घुसने देना, यह है संवर और जो शत्रु घुस चुके हैं उनको समाप्त कर देना, नष्ट कर देना, यह है निर्जरा। यह है क्षयीकरण। नई कामना को पैदा न होने देना संवर है और कामनाओं का जो ढेर पड़ा है, जो संस्कारों का चय है, उसको नष्ट करना, विलय करना, यह है निर्जरा।

अनेक ध्यान-पद्धतियाँ हैं—उनमें साक्षी या द्रष्टा बने रहने की बात सिखाई जाती है। यह अच्छी बात है। द्रष्टाभाव या साक्षीभाव से संवर हो सकता है, नई कामना उत्पन्न नहीं हो सकती, परन्तु जो पुराना संग्रह है कामनाओं और वृत्तियों का, उसका विलयन कैसे होगा? द्रष्टाभाव से निर्जरा नहीं हो सकती, संवर हो सकता है। युद्ध में विजय पाने के लिए केवल संवर पर्याप्त नहीं है। निर्जरा के बिना, संचित वृत्तियों के

विच्छेदन के बिना, पूरा युद्ध लड़ा नहीं जा सकता। संचित वृत्तियों के विच्छेदन के लिए हमें उपाय करना होगा। उसका उपाय है, वृत्ति को देखना और प्रतिपक्ष की भावना के द्वारा उसका विलयन करना। प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा का प्रयोग भी महत्वपूर्ण है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। अनुप्रेक्षा के प्रयोग के बिना वृत्तियों का विलयन नहीं होता, यह अनुभव की बात है। मैंने अनुभव किया है कि द्रष्टाभाव से स्वभाव को बदलना कठिन मार्ग है। यह दीर्घकालीन उपक्रम है। यह लम्बा मार्ग है। इस पर हरेक व्यक्ति का चल पाना कठिन है, संभव भी नहीं है। सीधा मार्ग होता है तो उस पर हर कोई चल सकता है पर दुर्गम मार्ग पर अकेला व्यक्ति चल नहीं पाता। उसे सहयोगी की अपेक्षा होती है। अनुप्रेक्षा उस अवस्था में पूर्ण सहयोग करती है और व्यक्ति में नई स्फूर्ति का संचार करती है। तब व्यक्ति सहजरूप से वृत्ति को बदलने में कामयाब हो जाता है।

निरोध और शोधन

संवर और निर्जरा— निरोध और शोधन की ये दो प्रणालियां हैं। केवल निरोध या केवल शोधन पर्याप्त नहीं है। शोधन के साथ-साथ यदि भविष्य में न करने का संकल्प नहीं होता, निरोध नहीं होता, संवर नहीं होता, तो फिर शोधन का अर्थ न्यून हो जाता है।

प्रत्येक शोधन के साथ निरोध और निरोध के साथ शोधन होना चाहिए। प्रेक्षा निरोध की प्रणाली है और अनुप्रेक्षा शोधन की प्रणाली है। इन दोनों के सहारे ही व्यक्ति कामवृत्ति के युद्ध में विजयी बन सकता है।

अनेक लोग अपनी शक्ति का उपयोग नहीं करते और दूसरे की शक्ति पर अधिक निर्भर रहते हैं। वृत्तियों के परिष्कार में स्वशक्ति पर निर्भर होना आवश्यक है। काम की वृत्ति संकल्प से पैदा होती है। मन में संकल्प उठता है और कामवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं बनेगा, तब तक इस पर नियंत्रण नहीं पाया जा सकेगा। यह आध्यात्मिक नियंत्रण आवश्यक है। यह इसलिए कि इन तीन-चार दशकों में मुक्तभोग, मुक्त यौनाचार, समलैंगिक व्यभिचार आदि काम-सेवन की विधियों ने समूचे विश्व को आक्रान्त कर रखा है। सारा विश्व आतंक से भरा है। 'एड्स' की भयावह बीमारी इसी का परिणाम है। यह केन्सर से भी अत्यधिक भयंकर बीमारी है। कामवृत्ति की उच्छृंखलता के इस परिणाम ने सारे संसार को भयग्रस्त कर डाला। आज अणुबम का जितना आतंक है उससे कम आतंक नहीं है 'एड्स' की बीमारी का। सारे राष्ट्र इस बीमारी की

भयंकरता से घबरा गए हैं। इसकी रोकथाम के लिए सघन प्रयत्न किए जा रहे हैं। इस बीमारी का एकमात्र कारण है कामवृत्ति की निरंकुशता। इस संदर्भ में, जागतिक और सामाजिक समस्या के संदर्भ में, हम विचार करें तो कामवृत्ति पर नियन्त्रण करना और उसके साथ संघर्ष करना अत्यन्त आवश्यक है।

उपशमन और दमन

आज की शिक्षा या वातावरण ने युवक के मन में एक भ्रांति पैदा कर दी कि इच्छा का दमन नहीं करना चाहिए, काम-वासना का दमन नहीं करना चाहिए। इस भ्रान्ति ने मुक्त यौनाचार को प्रश्रय दिया और एक समस्या पैदा कर दी। दमन का अर्थ युवक ने समझा नहीं। 'दमन नहीं करना'—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि डंडा नहीं मारना। कभी-कभी डंडा मारना भी आवश्यक हो जाता है। भारतीय चिन्तन में दमन का बहुत व्यापक अर्थ है। लज्जा, एकाग्रता, धृति, क्षमा आदि आदि सदाचार की बीसों वृत्तियों का नाम है 'दमन'। श्वासप्रेक्षा का प्रयोग करना, आनन्द-केन्द्र और दर्शनकेन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करना, अन्तर्यात्रा का प्रयोग करना—ये सारे दमन हैं। इनको बुरा कैसे मानें? दमन बुरा ही नहीं होता। हम वृत्तियों का उपशमन करें, यह दमन नहीं है। उपशमन और दमन की प्रक्रिया अत्यन्त वैज्ञानिक है। 'दमित वासनाएं समस्याएं पैदा करती हैं'—फ्रायड की इस बात को ठीक समझा नहीं गया। दमन आवश्यक है और दमित वासनाएं खतरनाक भी होती हैं—ये दोनों विरोधी बातें हैं। जब हम वृत्तियों को शांत करने के लिए उपाय का आलम्बन लेते हैं तब वह दमन नहीं होता। वहां वृत्ति का शमन होता है। वह दमन की प्रक्रिया नहीं है, उपाय है। वृत्ति जागी और उसे बलात् रोकना दमन हो सकता है, पर उस वृत्ति को उपाय के द्वारा शान्त करना दमन नहीं है, शमन है। शमन बुरा नहीं होता। यह आज की अनिवार्य आवश्यकता है। दूध में उफान आया, पानी का छीटा दिया और उसका उफान शान्त हो गया। यह उफान को शान्त करने का उपाय है। वृत्ति जागी। उपाय किया। दीर्घश्वास अन्तर्यात्रा या अनुप्रेक्षा का आलम्बन लिया और वृत्ति के उस उफान को शान्त कर दिया। यह शमन की प्रक्रिया है। इसका आलम्बन लेकर हम सुखी और आनन्दमय जीवन जी सकते हैं।

लड़ें स्वयं के साथ

एक जिज्ञासा लेकर शिष्य आचार्य की सननिधि में प्रस्तुत हुआ। विनम्र भाव से वंदना कर उसने कहा—गुरुदेव ! मैंने सुना है, पढ़ा है—भगवान् महावीर इस संसार में अहिंसा के सबसे बड़े प्रवर्तक हुए हैं। उन्होंने अहिंसा को जितना मूल्य दिया, उतना महत्त्व किसी को नहीं दिया। मैंने यह भी सुना है—महावीर युद्ध की भाषा में बोले, लड़ाई की भाषा में बोले, जय और पराजय की भाषा में बोले। मेरे मानस में यह प्रश्न घूम रहा है—महावीर युद्ध की भाषा में क्यों बोले ? एक ओर अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन, दूसरी ओर युद्ध की भाषा का प्रयोग। इन दोनों में संगति कहां है ? मनोवैज्ञानिक बतलाते हैं—युद्ध एक मौलिक मनोवृत्ति है। मनो-विज्ञान में चौदह मनोवृत्तियां मानी गई हैं। उनमें एक है युद्ध। क्या यह माना जाए—महावीर में भी यह मौलिक मनोवृत्ति विद्यमान थी ?

गुरु ने कहा—वत्स ! महावीर अहिंसा के प्रवक्ता थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। महावीर युद्ध की भाषा में बोले, यह भी सचाई है। महावीर क्षत्रिय राजकुमार थे। युद्ध क्षत्रिय का प्रिय विषय होता है।

कायरता है सबसे बड़ा पाप

वस्तुतः लड़ना कोई बुरी बात नहीं है। बुरा है कायर होना। महावीर ने कायरता को सबसे बड़ा पाप बतलाया। बहुत लोग आक्षेप करते हैं—अहिंसा कायरता सिखलाती है, जैन-धर्म ने कायरता सिखलाई। यह आरोपण भी कर दिया जाता है—हिन्दुस्तान परतन्त्र बना, उसमें जैन धर्म और बौद्ध धर्म का बहुत सहारा रहा है। इन धर्मों ने अहिंसा पर अधिक बल दिया इसलिए हिन्दुस्तान परतंत्र बन गया। इस आरोपण में कोई सचाई नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह बिल्कुल मिथ्या बात है। अहिंसा के कारण कोई देश परतंत्र नहीं बनता। कायरता के कारण, आपसी फूट और कलह के कारण ही कोई देश परतंत्र बनता है। जहां परस्पर वैमनस्य होता है, कलह और संघर्ष होता है, वहां परतंत्र होने की सम्भावना बनी रहती है। जहां अहिंसा का विकास होता है, वहां फूट, बेईमानी और कलह को पनपने का अवकाश नहीं मिलता।

युद्ध का होना अनिवार्य है

मनुष्य का सबसे उदात्त गुण है—पराक्रम । विक्रम और पराक्रम मनुष्य के विशिष्ट गुण हैं । जहां विक्रम और पराक्रम होगा, वहां अभिक्रम निश्चित होगा । 'अभिक्रमो रणे यानम्' अभिक्रम का अर्थ है—युद्ध की दिशा में प्रस्थान । यह पराक्रम का लक्षण है । प्रश्न हो सकता है—युद्ध कहां करें ? युद्ध भूमि कौन-सी हो ? युद्ध किनसे करें ? युद्ध कैसे करें ?

हमारे दो जगत् हैं—भीतरी जगत् और बाह्य जगत् । जिन लोगों ने भीतरी जगत् का साक्षात्कार नहीं किया है, वे बाहर में लड़ेंगे, युद्ध भूमि में दूसरों से लड़ेंगे, शस्त्रों के द्वारा लड़ेंगे । जब बाह्य जगत् का आंतरिकीकरण हो जाता है, बाह्य स्थितियों का भीतर में स्थानांतरण हो जाता है, तब भी युद्ध चलता है किन्तु वह युद्ध रणभूमि में नहीं, अपनी चेतना की भूमि पर लड़ा जाता है । वह युद्ध किसी दूसरे से नहीं किन्तु अपनी ही दुर्बलताओं से लड़ा जाता है । वह युद्ध बाह्य शस्त्र से नहीं किन्तु अपने ही शस्त्र से लड़ा जाता है, जागरूकता और अप्रमाद से लड़ा जाता है । आंतरिकीकरण में युद्ध का साधन बदल जाएगा, स्थल बदल जाएगा, प्रकार बदल जाएगा किन्तु युद्ध का होना अनिवार्य है ।

दुर्लभ है युद्ध का क्षण

महावीर ने कहा—**जुद्धारिहं खलु दुर्लभं**—युद्ध का क्षण दुर्लभ है । कोई-कोई क्षण ऐसा होता है, जो युद्ध का क्षण होता है । किसी भाग्यशाली को ही युद्ध का क्षण उपलब्ध होता है । महावीर जैसे अहिंसा के प्रवक्ता हैं वैसे ही युद्ध के प्रवक्ता भी हैं । ब्राह्मण ने नमि से कहा—राजन् ! अनेक राजाओं की आपके राज्य पर नजर टिकी हुई है । आप राज्य छोड़कर चले जाएंगे तो पीछे क्या होगा ? उन सब राजाओं को अपने अधीन बना लें, उन पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लें, उसके बाद संन्यासी बन जाएं—

जे केई पत्थिवा तुब्भं, नानमंति नराहिवा ।

वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया !

नमि राजर्षि ने उत्तर दिया—जिसको वश में करना चाहिए, उसको वश में नहीं किया जा रहा है । मैं युद्ध में लड़े जाने वाले युद्ध में विश्वास नहीं करता । इस बाहरी युद्ध से अधिक महत्त्वपूर्ण है अपनी आत्मा से युद्ध करना—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।
 एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥
 अप्पाणमेव जुज्जाहि किं ते जुज्जेण बज्जाओ ?
 अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख लोगों को जीतता है, उसकी अपेक्षा वह एक अपनी आत्मा को जीतता है, वह उसकी परम विजय है ।

आत्मा के साथ ही युद्ध कर । बाहरी युद्ध से क्या होगा ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतकर ही मनुष्य सुख पाता है ।

युद्ध के बाद सुख नहीं, दुःख बढ़ता है

जो युद्ध समर भूमि में लड़ा जाता है, उसमें व्यक्ति दूसरों के जीवन के साथ खेलता है । उसमें हारने वाला तो हारता ही है, जीतने वाला भी हार जाता है । उस युद्ध से व्यक्ति स्वयं दुःखी बनता है और सारे संसार को दुःखी बना देता है । दूसरे महायुद्ध से पहले अधिक महंगाई नहीं थी, कठिनाई नहीं थी । द्वितीय महायुद्ध के बाद लोगों की कठिनाइयां बढ़ गई, वस्तुओं के भाव यकायक बढ़ गए । महायुद्ध के बाद सारी स्थितियां बदल गई, जीवन-निर्वाह दूभर होता चला गया । इतिहासवेत्ता जानते हैं—महाभारत से पहले जो हिन्दुस्तान था, वह बहुत समृद्ध हिन्दुस्तान था । विद्या, बुद्धि, वैभव आदि से समृद्ध था, मंत्र, यंत्र से सम्पन्न था । महाभारत के बाद हिन्दुस्तान का नक्शा बदल गया । महाभारत के पूर्व और महाभारत के बाद हिन्दुस्तान में आकाश-पाताल जितना अन्तर आ गया । महाभारत युद्ध से अनेक विद्याएं लुप्त हो गई, बड़े-बड़े विद्याधर, अनेक विद्याओं के मर्मज्ञ मनुष्य समाप्त हो गए । आज अणुबम बहुत खतरनाक माना जाता है । उस समय ब्रह्मास्त्र कम खतरनाक नहीं था । एक प्रकार से मानना चाहिए—महाभारत के युद्ध में शक्तियों का लोप ही नहीं हुआ, हिन्दुस्तान की आत्मा भी चली गई । युद्ध के बाद दुनिया में सुख नहीं बढ़ता, दुःख बढ़ता है । यह एक सचाई है ।

युद्ध के दो प्रकार

नमि राजर्षि ने आत्मयुद्ध का संकल्प किया, अपने आप से युद्ध करने का संकल्प किया । आत्मयुद्ध आत्मा का आत्मा से युद्ध है । प्रश्न प्रस्तुत हुआ—अपने आप से लड़ो, इसका मतलब है, एक वह आत्मा है, जिससे युद्ध करना है और एक वह आत्मा है जो युद्ध करने वाली है । एक को पराजित करना है और एक को

विजेता बनाना है। ये दो आत्माएं कहां से आ गई? उत्तर दिया गया—प्राणी के भीतर दो नहीं, सौ आत्माएं बैठी हैं। आत्मा कभी अकेली बनी ही नहीं। मनुष्य के इस शरीर के भीतर अनेक आत्माएं हैं। उनमें एक आत्मा को विजेता बनाना है और शेष को पराजित करना है। एक पराजित करने वाली आत्मा, एक पराजित होने वाली आत्मा है।

आगम साहित्य में आत्मा का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। आत्मा का एक अर्थ है—शरीर। आत्मा का एक अर्थ है—इन्द्रियां। आत्मा का एक अर्थ है—मन। आत्मा का एक अर्थ है—चेतना। आत्मयुद्ध के प्रसंग में इन्द्रिय, मन और कषाय आत्मा से लड़ना है। चार कषाय, पांच इन्द्रियां और मन—इन दस का समूह है—आत्मा। यह एक यूनिट है, इकाई है। आत्मयुद्ध में इस आत्मा को पराजित करना है और ज्ञाता द्रष्टा आत्मा को विजयी बनाना है। यह 'आत्मना युद्धस्व' की रूपरेखा है।

आश्चर्यजनक सच

'कैसे लड़ें' इस प्रश्न पर अध्यात्म और मनोविज्ञान—इन दो दृष्टियों से विचार करना अपेक्षित है। अध्यात्म के आचार्यों ने चेतना के क्षेत्र में समूह जगत् के अनेक रहस्यों का प्रतिपादन किया था। किन्तु वे बहुत संदिग्ध माने जाते थे। सिगमंड फ्रायड, जो मनोविज्ञान के प्रवर्तकों में प्रमुख हैं, ने चेतना के सूक्ष्म-स्तरों का विश्लेषण किया। उससे अध्यात्म को एक नया प्रकाश मिला, नया बल मिला। फ्रायड के बाद मनोविज्ञान की एक परम्परा चल पड़ी। मनोविज्ञान ने चेतना ने अनेक सूक्ष्म स्तरों की व्याख्या की। अगर आज कोई आध्यात्मिक मनोविज्ञान को नहीं पढ़ता है तो एक कमी महसूस करनी चाहिए। चेतना के सूक्ष्म स्तरों की व्याख्या में मनोविज्ञान आज अध्यात्म का पूरक एवं सहायक बनता है। यह स्वीकार करना चाहिए—आज चेतना के जगत् में प्रवेश करने का संसार को जो अवसर मिला है, वह मनोवैज्ञानिकों के द्वारा मिला है, किसी धार्मिक व्यक्ति के द्वारा नहीं मिला है। यह आश्चर्य की बात होते हुए भी सच है।

मनोरचना का एक प्रकार : अवदमन

मनोविज्ञान में मनोरचना के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। इनमें तीन प्रमुख हैं—

- अवदमन (रिप्रेशन)
- शमन (सप्रेशन)
- उन्नयन (सब्लिमेशन)

मनोरचना का पहला प्रकार है—अवदमन । एक सामाजिक प्राणी हर कोई काम नहीं कर सकता । समाज में रहने वाला, सामाजिक जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे जैसा नहीं कर सकता । व्यक्ति के मन में बहुत सारी तरंगें पैदा होती हैं, अनेक प्रकार की कल्पनाएं और विचार पैदा होते हैं । किन्तु जो मन में आता है, उसे वह करता नहीं है । व्यक्ति के मन में जो आए उसे वह करता चला जाए तो वह सामाजिक दृष्टि से पागल कहलाएगा । सामाजिक व्यक्ति में सहज नियंत्रण होता है । समाज का मतलब है नियंत्रण । समाज बना, साथ-साथ नियंत्रण ने भी जन्म लिया । एक व्यक्ति कुलीन परिवार का है, उस परिवार में शराब को हेय माना जाता है । व्यक्ति के मन में विचार आया—मुझे शराब पीना है । मन में यह भाव आ गया किन्तु वह शराब पी नहीं सकता । वह सोचता है—घर का अमुक सदस्य देख रहा है, अमुक व्यक्ति व्यक्ति देख रहा है इसलिए शराब पीना उचित नहीं है । मन में जो भाव जगा, आकांक्षा पैदा हुई, वह पूरी नहीं हुई । वह अकेला नहीं था, उसके साथ दूसरा व्यक्ति था इसलिए उसे अपनी आकांक्षा को दबाना पड़ा । उसकी आकांक्षा समाप्त नहीं हुई । वह दमित भावना, दमित आकांक्षा स्थूल चेतना से हटकर अवचेतन जगत् में चली जाती है, अवदमित हो जाती है । यह है अवदमन । एक वृत्ति का अवदमन हो गया, इसका मतलब है—वह उस समय उस बुराई से बच गया । बचने का निमित्त चाहे कुछ भी बना किन्तु बचाव हो गया ।

नियंत्रण : एक उपाय

एक लड़का बुराई में चला गया । पिता ने बहुत उपाय किए किन्तु कोई परिवर्तन नहीं आया । एक बार गांव में एक मुनि आए । पिता अपने लड़के को मुनि के पास ले गया । उसकी सारी बात मुनिजी को बता दी । मुनि ने लड़के से कहा—तुम बुराइयां छोड़ दो ।

लड़का बोला—मैं असमर्थ हूं । मैं नहीं छोड़ सकता ।

मुनि बड़े मनोवैज्ञानिक थे । उन्होंने सारी स्थिति को देखकर सोचा—इसे ज्यादा कहना अच्छा नहीं है और यह सीधे रास्ते से बुराइयां नहीं छोड़ेगा । मुनि बोले—‘तुम शराब पीना नहीं छोड़ सकते, जुआ नहीं छोड़े सकते, वेश्यागमन नहीं छोड़ सकते पर एक बात तो मान सकते हो ।’

‘आप क्या कहना चाहते हैं ?’

‘क्या तुम झूठ बोलना छोड़ सकते हो ?’

‘हां, यह मैं कर सकता हूं।’

मुनि ने लड़के को झूठ बोलने का त्याग करवा दिया। चाबी हाथ में आ गई। दूसरा दिन! प्रातःकाल ही वह तैयार होकर पीने के लिए जाने लगा। पिता ने पूछा—‘कहां जा रहे हो?’

वह उलझन में फंस गया। झूठ बोलना नहीं था। उसने संकोच के साथ कहा—‘शराब पीने जा रहा हूं?’

‘तुम शराब पीते हो?’

पुत्र कुछ बोल नहीं सका। वह चुपचाप वापस मुड गया।

दोपहर का समय। वह जुआ खेलने जाने लगा। मां ने कहा—‘कहां जा रहा है?’

उसके सामने पुनः समस्या पैदा हो गई। क्या कहे? वह जुआ खेलने नहीं जा सका।

संध्या का समय हुआ। उसने वेश्या के घर जाने की तैयारी की। बहन ने पूछ लिया—‘कहां जा रहे हो?’

वह फिर मुसीबत में फंस गया। उसका मन लज्जा से भर गया। वेश्यागमन बंद हो गया।

उसकी वृत्तियां नहीं छूटीं। ऊपर से एक नियंत्रण आया, वृत्तियों का दमन हो गया। वे धीरे-धीरे अवचेतन में चली गईं। बाहरी तैर पर सारी बुराइयां बंद हो गईं। बुराइयों से लड़ने का यह एक प्रकार है—अवदमन। यह प्रकार बहुत अच्छा नहीं है किन्तु कभी-कभी अच्छा भी होता है।

शमन

मनोविज्ञान की भाषा में आत्मयुद्ध का दूसरा प्रकार है—शमन—सप्रेषन। मनुष्य में थोड़ा विवेक जाग जाता है। वह सोचता है—यह काम करना अच्छा नहीं है, जुआ खेलना अच्छा नहीं है। मैंने पढ़ा है—बहुत काम-वासना से भयंकर बीमारियां पैदा हो जाती हैं। इस प्रकार का विचार मनुष्य के मानस में उपजता है और वह उस बुराई से अपना बचाव करता है। अपने बचाव के लिए, आत्म-रक्षा के लिए इस प्रकार की मनोरचना की निर्मिति शमन—सप्रेषन है।

उदात्तीकरण

आत्मयुद्ध का तीसरा प्रकार है—उन्नयन—उदात्तीकरण, एक वृत्ति को उदात्त बना लेना। मन बार-बार बुरे विचारों में जा रहा था, बुरी भावनाएं जन्म ले रही थीं।

एक आलंबन मिला स्वाध्याय का। व्यक्ति ने संकल्प किया—प्रतिदिन पांच घंटा स्वाध्याय में लगाना है। इस सूत्र को पकड़कर वह स्वाध्याय में लग गया। दिन भर उठने वाले बुरे विचार, बुरी कल्पनाएं बंद हो गईं। जो मन बुरी दिशा में जा रहा था, उसका उन्नयन हो गया, उदात्तीकरण हो गया। बुराई से बचने के लिए वृत्ति का रूपांतरण करना उदात्तीकरण है।

आत्मयुद्ध : अध्यात्म के सूत्र

बुराई से बचाने का मतलब है अपने आप से लड़ना, अपने आपसे संघर्ष करना, युद्ध करना। अध्यात्म में बुराई से निवृत्त होने के अनेक उपाय निर्दिष्ट हैं—

संकल्पः शमनं, ज्ञातृद्रष्टृभावविभावनम्।

स्मरणं प्रतिक्रमणं, युद्धं पंचविधं स्मृतम् ॥

आत्मयुद्ध के पांच प्रकार हैं—

- संकल्प
- शमन
- ज्ञाता-द्रष्टा भाव
- स्मरण
- प्रतिक्रमण

आत्मयुद्ध का पहला प्रकार है—संकल्प। संकल्प का प्रयोग करना यानी अपनी संकल्प शक्ति को बढ़ा लेना, जिससे व्यक्ति इन्द्रियों और संवेगों के साथ लड़ सके, कषायों के साथ युद्ध कर सके। 'इयार्णि नो' अब नहीं करूंगा, यह संकल्प आत्म युद्ध का पहला अस्त्र है। जिस व्यक्ति को यह अस्त्र प्राप्त होता है, वह अपने आपको बचा सकता है।

आत्मयुद्ध का दूसरा प्रकार है—शमन करना। जैसे मनोविज्ञान में दो प्रक्रियाएं निर्दिष्ट हैं वैसे ही अध्यात्म के क्षेत्र में भी दो प्रक्रियाएं हैं—एक उपशमन की प्रक्रिया और दूसरी क्षयीकरण की प्रक्रिया।

शमन का निदर्शन

मनोविज्ञान में दबाने की प्रक्रिया बतलाई गई है। अध्यात्म के क्षेत्र में भी दबाने की प्रक्रिया मान्य है। किसी वृत्ति का एक साथ क्षय हो जाए, यह जरूरी नहीं है। उसका क्षय न हो तो कम से कम उसे खुला मत छोड़ो, उसका नियंत्रण करो, दबाओ। दबाने से भी वृत्ति में बड़ा अन्तर आ सकता है।

एक राजा के मन में एक विकल्प उठा। उसने राज्यसभा में घोषणा की—जो व्यक्ति बकरे को तृप्त कर देगा उसे पुरस्कृत किया जाएगा। बिलकुल नई घोषणा थी। बकरा कभी तृप्त नहीं होता। ज्योंहि उसके सामने खाने की सामग्री रखी जाती है, वह खाने लग जाता है। पुरस्कार की बात से प्रत्येक के मन में लार टपकने लगी। एक व्यक्ति ने बकरे को खूब खिलाया, पिलाया, उसे तृप्त कर दिया। वह राजा के सामने प्रस्तुत हुआ। उसने कहा—मेरा बकरा बिलकुल तृप्त है। बकरे को लाया गया। राजा ने कर्मचारियों को आदेश दिया—चारा लाओ। चारा बकरे के सामने रखा गया। बकरे ने तत्काल चारे में मुंह डाल दिया, वह खाने लग गया। राजा ने कहा—यह तो तृप्त नहीं है। कई व्यक्ति आए, असफल होकर चले गए।

तीन दिन बाद एक आदमी आया। उसने कहा—मेरा बकरा बिलकुल तृप्त है। राजा के सामने बात रखी गई। राजा ने उसे बुलाया। बकरे के सामने चारा रखा गया पर वह बिलकुल नहीं खा रहा है। राजा को आश्चर्य हुआ—यह कैसे हुआ! बकरे के सामने फिर चारा रखा तो भी वह नहीं खा रहा है। बहुत देर तक चारा सामने पड़ा रहा। बकरे ने चारे का स्पर्श भी नहीं किया। राजा ने कहा—तुम उत्तीर्ण हो, पर बताओ! यह कैसे किया?

वह बोला—महाराज! तीन दिन हो गए। इसके साथ बराबर घूम रहा हूँ। जब-जब इसने खाने का साहस किया, मेरा डंडा इसके सिर पर पड़ा और अब यह इतना प्रशिक्षित हो गया है कि खाने की हिम्मत ही नहीं कर रहा है।

आवश्यक है नियंत्रण

यह दमन की बात है, नियंत्रण की बात है। जब-जब भीतर से मांग उठे, एक डंडा मारो। डंडा मारते-मारते मन प्रशिक्षित हो जाए, फिर सामने कितना चारा आए, बढ़िया पदार्थ आए, व्यक्ति उसे पसंद ही नहीं करता। नियंत्रण भी अनावश्यक नहीं होता। यह भी एक प्रकार है लड़ने का।

वृत्ति को दबाना, दबाते रहना आवश्यक है। समाज में रहने वाला व्यक्ति हो या साधना के क्षेत्र में रहने वाला व्यक्ति, दबाने की बात सबके लिए प्राप्त होती है। कोई भी व्यक्ति एक साथ वीतराग नहीं बन जाता। यह अतिकल्पना है—आज ही साधु बना और आज ही वह वीतराग बन जाएगा। इन सीढ़ियों से चढ़ा रागी बनकर और उतरेगा वीतरागी बनकर, यह कभी संभव नहीं है। हर आदमी को प्रक्रिया से गुजरना होता है। उसमें नियंत्रण भी जरूरी बात है। अगर गुरु, आचार्य, व्यवस्था या संघ का नियंत्रण न हो तो व्यक्ति अपने पथ से भटक जाए।

ज्ञाता-द्रष्टा भाव

आत्मयुद्ध की तीसरा उपाय है—ज्ञाता-द्रष्टाभाव। जैसे-जैसे ज्ञाता-द्रष्टाभाव का विकास होगा, आत्मयुद्ध की लड़ाई अधिक तेज बन जाएगी। मैं भोक्ता नहीं हूँ, मैं द्रष्टा हूँ। इस चेतना का जैसे-जैसे विकास होगा, आत्मयुद्ध अधिक प्रखर बन जाएगा, विजय की संभावना प्रबल बन जाएगी।

नेतिवाद : चैतन्य की स्मृति

आत्म युद्ध का चौथा उपाय है—सतत स्मृति, सतत जागरूकता। बौद्ध साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है—स्मृति प्रस्थान। व्यक्ति को निरन्तर अपनी स्मृति रहे, वह अपने प्रति निरन्तर जागरूक रहे। वह सोचे—मैं इन्द्रियां नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ। मैं कषाय नहीं हूँ। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस विषय पर बहुत प्रकाश डाला है। समयसार में नेतिवाद का एक पूरा प्रकरण है—मैं क्रोध नहीं हूँ, मैं मान नहीं हूँ, मैं माया नहीं हूँ, मैं लोभ नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ, मैं वह नहीं हूँ। नेति-नेति करते चले जाएं—मैं राग नहीं हूँ, मैं द्वेष नहीं हूँ, मैं द्वेष नहीं हूँ, मैं ईर्ष्या नहीं हूँ, मैं घृणा नहीं हूँ। नेति-नेति करते-करते शेष रहेगा केवल चैतन्य। मैं चैतन्य हूँ, केवल चैतन्य हूँ और कुछ नहीं। यह सतत स्मृति आत्मयुद्ध का एक प्रकार है। उपनिषद् में नेतिवाद का विशद वर्णन है। आचारांग में भी नेतिवाद का पूरा प्रकरण है। इस नेतिवाद की सतत स्मृति अपने चैतन्य की स्मृति है।

प्रतिक्रमण : रणनीति का एक अंग

आत्मयुद्ध का पांचवा उपाय है—प्रतिक्रमण। मुड़कर देखना भी जरूरी है। प्रतिक्रमण में व्यक्ति सोचता है—मैं क्या था, क्या हूँ और मुझे क्या होना है? प्रतिक्रमण का अर्थ है—जिस स्थिति को स्वीकारा, आत्मयुद्ध को स्वीकारा, उस भूमिका पर पहुंचकर समग्र रूप से अपना विश्लेषण करना। प्रतिक्रमण नहीं होता है तो कभी-कभी शिथिलता आ जाती है, कमजोरी आ जाती है, रसद की कमी भी हो जाती है। जब दूसरा महायुद्ध चल रहा था तब बार-बार रेडियो में एक स्वर सुनाई देता—आज ब्रिटेन की सेना बड़ी बहादुरी के साथ पीछे हटी। पीछे भी हटी किन्तु बहादुरी के साथ। यह स्वर बहुत विचित्र लगता। पूछा गया—भाई ! पीछे हटने से कौन-सी बहादुरी है? इसका स्पष्टीकरण दिया जाता—यह भी रणनीति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आत्मयुद्ध की लड़ाई में कभी-कभी बहादुरी से पीछे हटना भी जरूरी है और इसी का नाम प्रतिक्रमण है।

आत्मयुद्ध : चेतना विकास का उपक्रम

महावीर का आत्मयुद्ध का यह संदेश मानवीय चिन्तन या मानवीय चेतना के विकास का सबसे बड़ा उपक्रम है। निठल्ला बैठना, कायर होकर बैठना महावीर जैसे पराक्रमी व्यक्ति को पसंद नहीं था। पराक्रमी व्यक्ति कभी निकम्मा बैठना पसन्द नहीं करता, खाली होकर बैठना पसंद नहीं करता। वह हमेशा कुछ न कुछ करता रहता है। यह आत्मयुद्ध पराक्रमी व्यक्ति ही कर सकता है। इसमें जो व्यक्ति आता है, वह स्वयं सुखी बनता है और दूसरो को भी सुख बांटता है। 'आत्मना युद्धस्व' यह अध्यात्म का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसकी गहराई में जाना, इसको जीना अपने आपको विजयी बनाना है। इस विजय में इन्द्रिय-विजय और मनो विजय—दोनों सहज उपलब्ध हो जाती हैं।



ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा

आत्मा एक ज्योतिपुंज है। एक बहन ने पूछा—‘यदि वह ज्योतिपुंज है तो उसका वर्ण कैसा है?’

आत्मा एक ज्योतिपुंज है। एक भाई ने पूछा—‘यदि वह ज्योतिपुंज है तो दीये की भांति दिखाई क्यों नहीं देता?’

आत्मा ज्योतिपुंज है तो उसका कोई वर्ण होना चाहिए। आत्मा ज्योतिपुंज है तो वह जलते हुए दीपक की भांति दिखाई देना चाहिए। किन्तु न उसमें कोई वर्ण है और न वह जलता हुआ दिखाई देता है।

ज्योतिपुंज है आत्मा

एक आदमी कमरे में गया। अन्दर बिजली जल रही थी। कुछ ही क्षणों के पश्चात् बिजली चली गई। अंधेरा छा गया। कुछ भी नहीं सूझ रहा था। कोई भी वस्तु दिखाई नहीं दे रही थी। बाहर खड़े एक आदमी ने पूछा—‘भीतर कौन है?’ उसने कहा—‘मैं हूँ।’

‘मैं हूँ’—यह कैसे देखा? भीतर अंधेरा है। कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा, फिर ‘मैं हूँ’ यह कैसे जाना? यदि आत्मा ज्योतिपुंज नहीं है तो कैसे दिखा कि ‘मैं हूँ’। यदि आत्मा ज्योतिपुंज नहीं है, दीपक की भांति ज्योतिर्मय नहीं है तो कैसे दिखा कि ‘मैं हूँ’। कितना ही सघन अंधकार हो, व्यक्ति चाहे भूगृह में खड़ा हो, किन्तु ‘मैं हूँ’—यह दीप कभी नहीं बुझता। यह सदा जलता रहता है। ‘मैं हूँ’—इतना-सा प्रकाश पर्याप्त है यह समझने के लिए कि भीतर कोई ज्योतिपुंज है। यह प्रकाश की एक किरण पर्याप्त है। यदि हमारी यात्रा ज्योतिपुंज की दिशा में चले, हमारे प्राण की सारी ऊर्जा उसी ओर प्रवाहित हो तो एक न एक दिन उस ज्योतिपुंज का साक्षात्कार अवश्य होगा। उसमें चाहे वर्ण हो या न हो, ज्वलन-शीलता हो या न हो, वह साक्षात् होगा।

वह आज साक्षात् नहीं है, फिर भी उसके प्रति हम संशयशील नहीं हैं। उसकी कुछ रश्मियां हमें दीख रही हैं। पूरा ज्योतिपुंज आंखों के सामने नहीं है, किन्तु उसकी कुछ रश्मियों से हम अवगत हैं। उन कुछेक रश्मियों के आधार पर हम

सहज अनुमान कर सकते हैं कि ज्योतिपुंज है। जिस दिन हमारी यात्रा-संपन्न होगी, हम मंजिल तक पहुंच जाएंगे, उस दिन हमारा यह अनुमान साक्षात् अनुभव में बदल जाएगा। जो आज आभास मात्र है, वह पूरा प्रत्यक्ष हो जाएगा। हम यात्रा करें। नीचे से ऊपर की ओर यात्रा करें। चेतना की ऊर्ध्वयात्रा, ऊर्जा का ऊर्ध्वगामी प्रवाह, प्राण की ऊर्ध्वगति—ये लक्ष्य तक पहुंचने के माध्यम हैं।

तनाव है काम का

हमें यात्रापथ इस शरीर में ही चुनना होगा। हमारे इस दृश्य शरीर में दो केन्द्र हैं—ज्ञानकेन्द्र और कामकेन्द्र। नाभि से ऊपर मस्तिष्क तक का स्थान ज्ञानकेन्द्र है और नाभि से नीचे का स्थान कामकेन्द्र है। हमारी चेतना इन दो वृत्तियों के आसपास उलझी रहती है। जहां चेतना ज्यादा उलझी रहती है वहां चेतना का प्रवाह भी अधिक हो जाता है। ऊर्जा का मुख्य केन्द्र कामकेन्द्र है। सारी चेतना इसी के आसपास बिखरी हुई है। नाभि और जननेन्द्रिय—इसी के आसपास मनुष्य की चेतना और ऊर्जा बिखरी पड़ी है। ज्ञानकेन्द्र में ऊर्जा बहुत कम है, क्योंकि आज के मनुष्य की मौलिक वृत्ति है काम और इसलिए उसकी सारी चेतना, सारी ऊर्जा वहीं सिमटी पड़ी है। उसका ध्यान उधर ही ज्यादा जाता है। मानसशास्त्री कहते हैं—“मनुष्य में काम का जितना तनाव होता है उतना और किसी वृत्ति का नहीं होता। भय का तनाव कभी-कभी होता है। क्रोध का तनाव कभी-कभी होता है। ईर्ष्या और मान का तनाव कभी-कभी होता है। इसी प्रकार अन्य आवेगों का तनाव भी कभी-कभी होता है। किन्तु काम का तनाव सबसे ज्यादा होता है, सघन होता है। उसकी जड़ें बहुत गहरे में हैं।”

इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या—इन तीन अप्रशस्त या अधर्म लेश्याओं का केन्द्र भी यही होना चाहिए और यथार्थ में यही है।

अभिव्यक्ति का केन्द्र

हमारी प्रत्येक वृत्ति का केन्द्र इस स्थूल शरीर में अवश्य ही होगा। उसकी अभिव्यक्ति का केन्द्र कामकेन्द्र के बीच में होगा। इन तीन अधर्म लेश्याओं की अभिव्यक्ति के केन्द्र कामकेन्द्र के बीच से अपान देश तक हैं। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के केन्द्र भी ये ही हैं। जब चेतना यहां रहती है तब इष्ट का वियोग होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। अनिष्ट का संयोग होने पर क्षोभ पैदा होता है।

प्रियता, अप्रियता की अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं। वेदना के आने पर व्याकुलता, वेदना को नष्ट करने की चेष्टाएं, क्रूरता, ईर्ष्या, घृणा— आदि के स्पंदन कामकेन्द्र के आसपास अनुभूत होते हैं। वे यहीं उभरते हैं। हमारे कामकेन्द्र की चेतना के आसपास ही वे स्पंदन क्रियान्वित होते हैं।

प्राणशक्ति

हमारी एक शक्ति है—प्राणशक्ति। एक ही प्राणशक्ति अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। उसके दस रूप बन जाते हैं। इन्द्रियों के साथ जब प्राण-ऊर्जा काम करती है तो पांच प्राण बन जाते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय प्राण, रसन इन्द्रिय प्राण, घ्राण इन्द्रिय प्राण, चक्षु इन्द्रिय प्राण और श्रोत्र इन्द्रिय प्राण। वही प्राण-धारा जब मन के साथ जुड़ती है तब मनोबल बन जाता है। जब वह वचन के साथ काम करती है तब वचनबल बन जाता है और वही जब काया के साथ काम जुड़ती है, तब कायबल बन जाता है। यही प्राणधारा जब श्वास के साथ जुड़ती है, श्वासप्राण बन जाता है। वही प्राण की ऊर्जा जब जीवन को टिकाए रखने में सक्रिय होती है तब आयुष्यप्राण बन जाता है, जीवन-शक्ति बन जाती है। एक ही प्राणधारा दस रूपों में विभक्त हो जाती है। एक ही नदी की दस धाराएं बन जाती हैं, दस प्रवाह बन जाते हैं।

कृष्ण लेश्या का परिणाम

जब प्राण की धारा नीचे की ओर प्रवाहित होती है, चित्त का प्रवाह नीचे की ओर जाता है तब सारे अस्तित्व का, शरीर का चेतना का केन्द्र कामकेन्द्र बन जाता है। उस कामकेन्द्र में उलझी हुई चेतना के आसपास कृष्णलेश्या के विचार पनपते हैं, नीललेश्या के विचार पनपते हैं, कापोतलेश्या के विचार पनपते हैं। अधर्म के जितने विचार हैं, आर्त और रौद्र ध्यान की जितनी परिणतियां हैं, वे सारी इसी कामकेन्द्र के आसपास पनपती हैं।

कृष्णलेश्या का एक लक्षण है—अजितेन्द्रियता। जिसमें कृष्णलेश्या होती है वह अजितेन्द्रिय होता है। यह इसका सूचक है कि ऐसी वृत्ति कामकेन्द्र के आस-पास ही उत्पन्न होती है। कामकेन्द्र के पास जो चेतना है वह कृष्णलेश्या का ही परिणाम है।

चक्र और लेश्या

जैन दर्शन ने छह लेश्याओं के आधार पर जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है,

हठयोग ने उन्हीं तथ्यों का छह चक्रों के आधार पर प्रतिपादन किया है। दोनों की अपनी-अपनी परिभाषाएं हैं। यदि दोनों को परिभाषाओं से मुक्त कर दें तो तथ्य-प्रतिपादन अक्षरशः मिला जाता है। हठयोग तीन चक्रों को ऊपर और तीन चक्रों को नीचे मानता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर—ये तीन चक्र हृदय से नीचे हैं और अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—ये तीन चक्र हृदय से ऊपर होते हैं।

जब मूलाधार चक्र सोया रहता है तब उत्तेजना बढ़ती है। स्वाधिष्ठान चक्र सोया रहता है तब आदमी कामुक होता है। मणिपुर चक्र सोया रहता है तब आदमी में ईर्ष्या, घृणा, क्रूरता के भाव पैदा होते हैं। तीन अप्रशस्त लेश्याओं के परिणामों से इनकी तुलना करें, सारी बातें ज्यों की त्यों मिल जाएंगी।

तीन अप्रशस्त लेश्याओं के ये ही स्थान हैं। यहां से चेतना की अधोयात्रा प्रारंभ होती है। सारी प्राण ऊर्जा का प्रवाह नीचे की ओर होने लग जाता है।

कल्पना लोक पुरुष की

एक रूपक है। जैन आचार्यों ने लोकपुरुष की कल्पना की। उन्होंने लोक को पुरुष के रूप में चित्रित किया। लोकपुरुष के तीन भाग हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। ऊर्ध्वलोक में हैं देवता, मध्यलोक में हैं मनुष्य और अधोलोक में हैं नैरयिक। मोक्ष ऊर्ध्वलोक में है। हृदय से हमारा ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है। ऊर्ध्वलोक जहां देवताओं का निवास है, वहां सिद्ध जीवों का निवास है, मुक्तात्माओं का निवास है। मध्यलोक का निवास है। कटि से नीचे का भाग अधोलोक है। यह नरकावास है।

हृदय से ऊपर धर्म लेश्याओं का स्थान है और हृदय से नीचे अधर्म लेश्याओं का स्थान है।

परिवर्तन का सूत्र : ऊर्ध्वयात्रा

हम देह प्रेक्षा में हृदय से प्रेक्षा आरंभ करते हैं। यह भी सकारण है। प्राण-ऊर्जा की यात्रा सबसे पहले ऊर्ध्व होनी चाहिए। उसका पूर्ण विकास होने पर फिर अधोयात्रा में कोई खतरा नहीं होता। देवता किसी कारणवश नीचे आता है तो कठिनाई नहीं होती। उसकी तो मात्र एक यात्रा है। यदि चेतना नीचे ही उलझी रह जाती है तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। यदि हम उस ज्योति-पुंज का, परम तत्त्व का, पारमार्थिक तत्त्व का, परम सत्ता का साक्षात्कार चाहते हैं तो ऊर्ध्वयात्रा करनी होगी। प्राण-ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा हुए बिना कुछ भी नहीं होता। निम्न प्रकार की वृत्तियों से छूटकारा नहीं हो सकता। व्यक्ति कितना ही सूने, माने और व्यवहार

के स्तर पर जाने, फिर भी वह इन निम्नस्तरीय वृत्तियों से नहीं छूट सकता। ऊर्ध्व-यात्रा प्रारम्भ होते ही वृत्तियों में परिवर्तन आने लग जाता है।

साधना का पहला चरण

ऊर्ध्वयात्रा का प्रारम्भ साधना का पहला चरण है। इसी का नाम है तपस्या। ऊर्जा को एकत्रित कर ऊर्ध्वगामी बनाना ही तपस्या है। ऊर्जा के बिना कुछ हो नहीं सकता। विस्फोट किए बिना कुछ भी निष्पन्न नहीं होता। जब तक विस्फोट की शक्ति नहीं होती तब तक कोई भी क्रांति घटित नहीं होती। क्रांतिकारी कार्य के संपादन के लिए एक विस्फोट की जरूरत होती है। विस्फोट के लिए ऊर्जा के भंडार की आवश्यकता होती है। ऊर्जा का संचय करें। ऊर्जा का व्यय कम करें। ऊर्जा का विस्फोट करें। ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी करें।

तपस्या का पहला प्रकार है—अनशन, भूखे रहना। भूखे रहने से ऊर्जा अधिक उत्पन्न होती है। भोजन करने से भी ऊर्जा उत्पन्न होती है। वह ऊर्जा केवल हमारे शरीर-यंत्र का संचालन मात्र कर सकती है। वह ऊर्जा कोशिकाओं को सक्रिय बना देती है। किन्तु चेतना के क्षेत्र में विस्फोट करने के लिए वह ऊर्जा पर्याप्त नहीं है। उससे विस्फोट संपन्न नहीं होता। विस्फोट के लिए सूक्ष्म ऊर्जा अपेक्षित होती है। वह तपस्या और भावना के द्वारा उत्पन्न होती है। वह सूक्ष्म प्रयोगों के द्वारा उत्पन्न होती है। वह अन्न खाने से पैदा नहीं होती। तपस्या में भी यदि पानी नहीं लिया जाता है। तो अधिक ऊर्जा पैदा होती है। गर्मी को सहने से और अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है।

गुप्ति की साधना

ऊर्जा को उत्पन्न करने, ऊपर ले जाने, उसका व्यय कम करने का उपाय है—प्रवृत्ति कम करो, स्थिर अधिक रहो। जितनी प्रवृत्ति होती है, ऊर्जा का व्यय भी उतना ही होता है। यह केवल आध्यात्मिक जगत् की ही बात नहीं है। शरीरशास्त्री भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं। प्रवृत्ति अधिक, ऊर्जा का व्यय अधिक। प्रवृत्ति कम, ऊर्जा का व्यय कम। चिकित्सक विश्राम करने का सुझाव देते हैं, उसके पीछे यही दृष्टिकोण है। विश्राम करने से शक्ति का व्यय कम होता है। ऊर्जा एकत्रित होती है।

कायिक प्रवृत्ति करते हैं तो ऊर्जा का व्यय होता है, इसलिए कहा गया है—कायगुप्ति करो।

वाचिक प्रवृत्ति करते हैं, बोलते हैं तो ऊर्जा का व्यय होता है, इसलिए कहा गया है—वाक् गुप्ति करो ।

सोचते हैं तो ऊर्जा का और अधिक व्यय होता है, इसलिए कहा गया है—मनोगुप्ति करो, निर्विचार रहो ।

अध्यात्म के क्षेत्र में ऊर्जा के व्यय को कम करने के ये उपाय निर्दिष्ट हैं । गुप्तियों के द्वारा ऊर्जा का उत्पादन अधिक होता है, गुप्ति करो । ऊर्जा की आय अधिक होती है, व्यय कम होगा ।

आसन

ऊर्जा को ऊपर कैसे ले जाया जा सकता है, यह एक प्रश्न है । बैठने की विभिन्न मुद्राएं ऊर्जा के ऊर्ध्वरोहण में सहायक बनती हैं । सामान्य आदमी यह नहीं सोच सकता कि पालथी मारकर बैठने से तथा पद्मासन या उकडूं आसन में बैठने से क्या अन्तर आता है । ये सारे आसन विशिष्ट उद्देश्य से ही निर्णीत किए गए हैं । इनसे ऊर्जा का प्रवाह ऊपर की ओर होता है । पद्मासन से दबाव पड़ता है, ऊर्जा ऊपर की ओर जाने लगती है । उकडूं आसने से नीचे के स्नायुओं पर दबाव पड़ता है । गोदोहिका आसन से पीछे की ओर दबाव पड़ता है । ऊर्जा ऊपर जाने लगती है ।

महावीर ने पूछा—“भंते ! ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ विशेष जानना चाहता हूं ।”

महावीर ने कहा—‘उडूं ठाणं ठाएज्जा—खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करो ।’

खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करने से ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है, रक्त नीचे की ओर जाता है ।

सर्वांगासन, शीर्षासन, वृक्षासन, पद्मासन—इन सबसे ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है । ध्यान के लिए जितने आसनों का विधान किया गया, वे सब ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने के उपक्रम हैं । इनसे ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, चित्त की ऊर्ध्वयात्रा होती है । इससे रूपान्तरण प्रारंभ हो जाता है, एक विस्फोट होता है । इस विस्फोट के बाद ही चेतना ऊपर की ओर बहने लगती है ।

इन तीन अधर्म लेश्याओं और तीन धर्म लेश्याओं के बीच पहले एक ऐसी दीवार खिंची रहती है कि सामान्य आदमी उसे तोड़ नहीं सकता । किन्तु जब साधक प्रबुद्ध चेतना वाला हो जाता है, ऊर्जा के महत्त्व को समझ लेता है, ऊर्जा का संचय कर लेता है और ऊर्जा के द्वारा कभी विस्फोट करता है तब वह दीवार टूटती

है, साधक ऊपर की ओर उठने लगता है। वहां तीन प्रशस्त लेश्याओं—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या का क्षेत्र आता है। एक ज्योतिर्मय प्रकाश शुरू होता है।

चेतना का स्थान

आयुर्वेद के ग्रन्थों में दो महत्वपूर्ण वाक्य हैं—

- हृदयं चेतनास्थानम्—हृदय चेतना का स्थान है।
- तत्परमौजसः—चेतना के बाद ओज का स्थान है।

ये दोनों चेतना के परम स्थान हैं। यहां से ऊर्ध्वयात्रा शुरू होती है। लेश्या धर्म की बन जाती है। तेजोलेश्या ज्योतिर्मय पुरुष, चैतन्य पुरुष की यात्रा है। उस समय आर्त-रौद्र ध्यान समाप्त हो जाते हैं। धर्म ध्यान का प्रारंभ हो जाता है। साधक पद्मलेश्या पर पहुंच जाता है। पद्मलेश्या का रंग पीला होता है। आचार्य का ध्यान विशुद्धि चक्र पर किया जाता है। वहां पीले रंग की कल्पना की जाती है। चेतना की यात्रा आगे बढ़ी है, साधक आज्ञाचक्र पर लाल रंग के साथ ध्यान करता है। वहां का रंग है लाल। साधक और आगे बढ़ता है। यह शुक्ललेश्या का स्थान है। यहां सब कुछ सात्त्विक ही सात्त्विक। प्रकाश ही प्रकाश और कुछ भी नहीं। चित्त की सारी वृत्तियां शांत हो जाती हैं। चित्तवृत्तियों का उभार शांत हो जाता है, कलुषताएं शांत हो जाती हैं। शेष रहती है निर्मलता।

प्रवेश द्वार है धर्म लेश्या

यह ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा है। धर्मलेश्या प्रवेश-द्वार है। यह नहीं भूलना चाहिए कि धर्मलेश्या में प्रवेश कर देने पर अधर्म लेश्याएं सर्वथा समाप्त हो जाती हैं। वे समाप्त होती हैं, किन्तु एक साथ समाप्त नहीं होती।

हमने अतीत में वृत्तियों का, आस्रवों का इतना संचय कर रखा है कि ऊर्ध्व-यात्रा करने पर भी उनका दबाव पड़ता है। वृत्तियां बार-बार उभरती हैं, दबाव पड़ता है, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं आता।

कोई वृत्ति जागी। स्पन्दन हुआ। तरंगे चलीं और कामकेन्द्र के पास पहुंची। कोई ऊर्जा नहीं मिली तो लौट गयीं। कोई परिणाम नहीं हुआ। बेकार हो गयीं। ऊर्जा मिलने पर वह वृत्ति का काम करती है, अन्यथा आती है और बिना फल दिए लौट जाती है। जब हमने ऊर्जा का सारा प्रवाह ऊपर की ओर कर दिया, ऊर्जा का भण्डार जो नीचे था वह खाली कर दिया और ज्ञानकेन्द्र में भर दिया, फिर कोई भी वृत्ति परिणाम नहीं दे सकती। वृत्तियों की तरंगें आती हैं और लौट जाती हैं, व्यक्ति

पर उनका कोई असर नहीं होता। न कामवासना का असर होता है, न ईर्ष्या और घृणा का असर होता है, न राग-द्वेष का असर होता है। सारी वृत्तियां बेकार। ऐसा लगता है कि वृत्तियां हैं किन्तु उन वृत्तियों में फलने की शक्ति समाप्त हो गयी है।

फलदान निमित्त-सापेक्ष होता है। बिना निमित्त के कोई फल दे ही नहीं सकता। विपाकोदय तब होता है जब कोई निमित्त मिलता है। बिना निमित्त के विपाकोदय नहीं हो सकता। वह व्यर्थ चला जाता है। कोई परिणाम नहीं आता।

ऊर्ध्वयात्रा का परिणाम

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा का एक परिणाम है—वृत्तियों की फलदान-शक्ति को नष्ट कर देना। तब वे वृत्तियां स्वतः नष्ट हो जाती हैं। जब तक उनको पोषण और सिंचन मिलता रहता है तब तक वे पनपती रहती हैं। जब सिंचन ही बंद हो जाता है तब उनका पनपना समाप्त हो जाता है। कुछ समय तक वे तरंगें जाती-आती हैं। साधक जब आगे ही बढ़ता चला जाता है तब एक दिन ऐसा आता है कि वे तरंगें समाप्त हो जाती हैं। उनका आवागमन मिट जाता है। यह सब होता है तप के द्वारा।

साधक के लिए कहा गया है कि शरीर को प्रकंपित कर दो, वृत्तियों को प्रकंपित कर दो, कर्म-शरीर को प्रकंपित कर दो। वृत्तियों के केन्द्रों को इतना हिला दो कि उनका मूल उखड़ जाए और वे अपने स्थान से च्युत हो जाएं। राग का, द्वेष का, कषाय का, कषाय से उत्पन्न होने वाले आस्रवों का और आस्रवों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियों का मूल उखड़ जाए।

आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा—ये चार कामना-मूलक संज्ञाएं हैं। क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा और लोभ संज्ञा—ये चार मनोमूलक संज्ञाएं हैं। ये आठों समाप्त हो जाएं। उनकी आसक्ति समाप्त हो जाए। उनको उखाड़ने का, मिटाने का एकमात्र उपाय है—तपस्या, ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन, ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा।

रसनेन्द्रिय और काम केन्द्र

ध्यान की प्रत्येक प्रक्रिया में यह ध्यान दिया जाता है कि वृत्तियों की चंचलता को समाप्त करने के लिए जीभ को स्थिर करना आवश्यक है। साधक ध्यान करने बैठा है। बहुत विकल्प आ रहे हैं, चंचलता है। उस समय यदि वह साधक जीभ को उलटकर तालु की ओर स्थिर कर देता है, तालु पर लगा देता है तो विचित्र

प्रकार के स्पंदन प्रारंभ हो जाते हैं और विकल्प शांत हो जाते हैं। विकल्पों को शांत करने का यह सुन्दर प्रयोग है। जब जीभ स्थिर होती है तब वृत्तियां शांत होने लग जाती हैं। कामकेन्द्र और रसनेन्द्रिय का बहुत बड़ा संबंध है। साधना के ग्रंथों में रसनेन्द्रिय को जीतने पर बल दिया गया है। यह निरर्थक नहीं है, सार्थक है। कामवासना पर विजय पाना है तो पहले रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करो। रसनेन्द्रिय का संयम करो।

रसना-संयम : काम-संयम

पांच इन्द्रियों में दो इन्द्रियां कठोर और अजेय मानी जाती हैं। एक है स्पर्शन इन्द्रिय और दूसरी है रसन इन्द्रिय। स्पर्शन इन्द्रिय का सीधा संबंध है कामकेन्द्र से और रसन इन्द्रिय का कुछ टेढ़ा संबंध है कामकेन्द्र से। रसना का संयम और काम का संयम—दोनों साथ चलते हैं। जैसी ही रसना का संयम होता है, वहां के स्पंदन जब कम होते हैं, विजित होते हैं तब कामवासना के स्पंदन भी कम होने लग जाते हैं।

जैसे ही जीभ का संयम किया, आध्यात्मिक स्पंदन शुरू हो जाते हैं। ये स्पंदन हमारी पकड़ में भी आते हैं। साधना करने वाले साधक को यह स्पष्ट अनुभव होगा कि ये स्पंदन इतने सुखद होते हैं कि वे कामकेन्द्र के स्पंदनों को भी पराभूत कर डालते हैं।

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा में रसनेन्द्रिय बहुत बाधक होती है। जब हम उसकी ऊर्जा को वहां से हटा लेते हैं और उसे स्थिर कर देते हैं तब वह बाधा समाप्त हो जाती है। रसलोलुपता नीललेश्या का परिणाम है। यह परिणाम समाप्त हो जाता है। ऐसा होने पर ही धर्मलेश्याएं पूर्ण जागृत हो जाती हैं। ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, प्राण की ऊर्ध्वयात्रा, चित्तवृत्तियों की निर्मलता, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति—ये सब घटित होती हैं। सारी स्थिति ही बदल जाती है—रूपान्तरण घटित होने लगता है। यह सब तपस्या का फल है।

तपस्या के फलित

तपस्या के द्वारा तीन बातें फलित होती हैं—

१. ऊर्जा का अधिक संचय।
२. ऊर्जा का अल्प व्यय।
३. ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा।

यह घटित होने पर ज्योतिपुंज के साथ साधक का संपर्क स्थापित हो जाता है। वह रश्मि जो 'मैं हूँ'—इतनी सी प्रतीत होती थी वह ज्योतिपुंज में मिल जाती है और तब 'मैं हूँ' बदल जाता है और केवल 'है' शेष रह जाता है। 'मैं' की बात समाप्त हो जाती है। जो रश्मियां बिखरी पड़ी थीं, जो एक जालीदार ढक्कन से छन-छनकर बाहर फैल रही थीं, वे सारी रश्मियां सिमटकर ज्योतिपुंज में लीन हो जाती हैं। उस समय ज्योतिपुंज के साक्षात्कार का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है। वहां कौन ज्योतिपुंज और कौन मैं—यह भेद मिट जाता है। सब कुछ ज्योतिर्मय बन जाता है।



आध्यात्मिक सुख

द्रव्य परिणामिनित्य होता है। यदि वह नित्य ही हो तो हमें कुछ करने की जरूरत ही नहीं होती। उसमें परिवर्तन तभी होता है जब कि परिवर्तनशीलता है। कुछ उत्पन्न होता है और कुछ नष्ट होता है। आत्मा भी परिणामिनित्य है। उसमें दो प्रकार के स्पंदन होते हैं। प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के स्पंदन होते हैं। एक है स्वाभाविक स्पंदन और दूसरा है निमित्तज स्पंदन। चैतन्य का स्पंदन स्वाभाविक होता है। यह निरंतर होता रहता है। दूसरा स्पंदन निमित्तों से उत्पन्न होता है। निमित्त अनेक हैं। एक निमित्त है—कर्म। कर्म से स्पंदन उत्पन्न होता है। दूसरा निमित्त है—प्राण। प्राण से स्पंदन उत्पन्न होते हैं।

स्पंदनों का समुद्र

इस प्रकार हमारा अस्तित्व तीन प्रकार के स्पंदनों से घिरा हुआ है—चैतन्य का स्पंदन, कर्म का स्पंदन और प्राण का स्पंदन। स्पंदनों का समुद्र तरंगित है। ऊर्मियां ही ऊर्मियां। एक स्थिर अंश, पर वह भी पूरा अस्थिर। एक नित्य अंश, पर वह भी पूरा अनित्य। इतना परिणामन है कि चारों ओर स्पंदन ही स्पंदन दिखाई दे रहा है। उस स्पंदन में अस्पंदित अंश को खोज पाना भी सरल नहीं है।

चैतन्य के स्पंदन सूक्ष्मतम स्पंदन हैं। कर्म के स्पंदन या सूक्ष्म शरीर के स्पंदन सूक्ष्मतर हैं। प्राण के स्पंदन सूक्ष्म हैं। स्थूल शरीर के स्पंदन स्थूल हैं। हम सबसे पहले इन स्थूल स्पंदनों को ही पकड़ते हैं। इनका ही हमें अनुभव होता है। इनको ही हम सुख या दुःख मानकर चलते हैं। स्थूल शरीर में होने वाले स्थूल स्पंदन ही हमारे लिए सुख-दुःख बने हुए हैं। उनसे परे जाकर सुख की कल्पना करना हमारे लिए शक्य भी नहीं है, संभव भी नहीं है। जब तक व्यक्ति चेतना के स्थूल स्तर पर जीता है तब तक यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि इसके परे भी कोई सुख हो सकता है।

श्वास के स्पंदन होते हैं। उनसे विद्युत् उत्पन्न होती है। जीवनी-शक्ति के स्पंदन होते हैं, हम जीवित रहते हैं। हमारे जीवन की नियामक प्राणशक्ति है—आयुष्यप्राण। उसके भी स्पंदन होते हैं। जब तक ये स्पंदन होते रहते हैं तब

तक सारे प्राणों के स्पंदन होते हैं। पांच इन्द्रियों के स्पन्दन होते हैं। मन के स्पंदन और वाणी के स्पंदन होते हैं। काया—शरीर के स्पंदन होते हैं। इस प्रकार प्राण दस हैं। सबके अपने-अपने स्पंदन हो रहे हैं। इन्हीं के आधार पर हमारे जीवन का यह ढांचा चल रहा है।

मूर्च्छा के स्पंदन

आठ प्रकार के कर्म हैं। आठ प्रकार के स्पंदन हैं। उनमें मोह के स्पंदन सबसे अधिक हैं। आवेश, उत्तेजना, भय, शोक, विषाद, घृणा, विकार, काम-वासना—ये सारे मूर्च्छा के स्पंदन हैं, मोह के स्पंदन हैं। ये निरन्तर होते रहते हैं। ये कभी विराम नहीं लेते। ये अपने-आप कभी रुकते भी नहीं। इनके आधार पर कभी सुख का अनुभव होता है, कभी दुःख का अनुभव होता है। इसमें कुछ स्पन्दन ऐसे होते हैं जो सुख का अनुभव कराते हैं और कुछ स्पन्दन ऐसे होते हैं जो दुःख का अनुभव कराते हैं।

क्या है सुख दुःख

सुख-दुःख क्या है, इसे समझना होगा। स्पंदनों के साथ मन का योग सुख है और स्पंदनों के साथ मन का योग ही दुःख है। स्पन्दनों के साथ यदि मन का योग नहीं होता है तो न सुख का अनुभव होता है और न दुःख का अनुभव होता है। प्रिय स्पन्दनों के साथ मन का योग होता है तो सुख और अप्रिय स्पन्दनों के साथ मन का योग होता है तो दुःख। सुख-दुःख की जो कल्पना है वह मन के योग के साथ होती है। मन को न जोड़ें और स्पन्दन होते रहें, कोई बात नहीं है। न सुख होगा और न दुःख।

निमित्तज हैं स्पंदन

स्पन्दन निमित्तज हैं। प्राण के स्पंदन निमित्त से उत्पन्न होते हैं और कर्म के स्पन्दन भी विपाक में निमित्त से ही आते हैं। स्पन्दन के निमित्त अनेक हैं। उनमें एक निमित्त है—चितन। चितन करते हैं, स्पन्दन प्रारंभ हो जाते हैं। स्मृति होती है, स्पन्दन होने लग जाते हैं। एक घटना है। चार आदमी बुद्धिया के घर आए। बुद्धिया ने उन्हें छाछ पिलाई। चारों चले गए। बुद्धिया ने देखा कि छाछ के बर्तन में सर्प मरा पड़ा है। बुद्धिया ने सोचा—बेचारे चारों मर गए होंगे। कुछ वर्ष बीते। वे चारों पथिक पुनः उसी बुद्धिया के यहां ठहरे। बुद्धिया ने उन्हें आश्चर्य से देखा। पूछने पर बुद्धिया ने घटित घटना बता दी। चारों के स्मृति-कोष्ठ जाग गए। उनकी

आंखों के सामने जहर मिली छाछ के पान का दृश्य उपस्थित हुआ और वे चारों उसी क्षण मर गए। उनको विष ने नहीं मारा, किन्तु विष की स्मृति ने मार डाला। वे सचमुच मर गए।

मंत्र : स्पंदन का सिद्धान्त

चितन से, स्मृति से, कल्पना से स्पन्दन पैदा होते हैं। सुखद स्पंदन भी पैदा होते हैं और दुःखद स्पंदन भी पैदा होते हैं। भक्ति और जप का मार्ग जो विकसित हुआ, उसके पीछे भी स्पन्दनों का ही सिद्धांत काम करता है। कहा जाता है—अमुक प्रकार की ध्वनि करो, अमुर प्रकार के स्पन्दन पैदा करो। उच्चारण सहित जप करो, मन्द जप करो, मौन जप करो, मानसिक जप करो और सूक्ष्म में जाकर प्राण का जप करो। यह स्पन्दनों के उत्पादन का ही सिद्धान्त है। मंत्र का सिद्धान्त भी ध्वनि का सिद्धान्त है, स्पन्दनों का सिद्धान्त है। मंत्र की रचना करने वाले जानते थे कि किस प्रकार की ध्वनि से किस प्रकार के स्पन्दन पैदा होते हैं और उनका क्या प्रभाव होता है। ध्वनियों के विविध स्पंदनों के आधार पर ही समूचा मंत्र-शास्त्र विकसित हुआ। सैकड़ों ग्रंथ मंत्र-शास्त्र पर लिखे गए। ऐसी कोई भी व्याधि, चाहे फिर वह शारीरिक हो या मानसिक, नहीं है, जिसके उपशमन के लिए कोई न कोई मंत्र निर्दिष्ट न किया हो। मंत्र के द्वारा धन की प्राप्ति की जाती है। मंत्र के द्वारा अनिष्ट का निवारण किया जाता है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ—सब में मंत्र का प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि स्पंदन पैदा करती है और वे नाना प्रकार के स्पंदन नाना प्रकार की अवस्थाएं पैदा करते हैं।

अनुभव भी स्पंदन पैदा करते हैं। हम किसी अनुभव में जाते हैं। एक विशिष्ट प्रकार के स्पंदन प्रारंभ हो जाते हैं।

ध्यान भी स्पंदन पैदा करता है।

जितने आस्रव, उतने ही संवर। जितने बंध के प्रकार, उतने ही मोक्ष के प्रकार। जितनी बीमारियां उतनी ही औषधियां। इसी प्रकार स्पंदन की उत्पत्ति के भी अनेक निमित्त हैं। जितने निमित्त, उतने ही प्रकार के स्पंदन। इसीलिए भक्ति-मार्ग भी चल रहा है; श्रद्धामार्ग भी चल रहा है; ज्ञान और क्रियामार्ग भी चल रहा है। किसी भी मार्ग पर चलें। अमुक-अमुक प्रकार के स्पंदन पैदा करें और अमुक-अमुक प्रकार के स्पंदनों को रोक दें, काम बन जाएगा।

प्रतिपक्ष भावना

अध्यात्म के क्षेत्र में जब स्पंदनों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया तो अनेक स्थापनाएं हुईं। एक स्थापना हुई—प्रतिपक्ष भावना की। स्पंदन पैदा करने का और सूक्ष्म स्तर तक पहुंचने का एक मार्ग है—भावना। भावना का अर्थ है—वैसा हो जाना, ध्येय के अनुरूप हो जाना। प्रतिपक्ष स्पंदनों से बहुत सारी बातें घटित हो जाती हैं। क्रोध का प्रतिपक्षी है—उपशम। क्रोध है तो उपशम के स्पंदन पैदा करो। मान का प्रतिपक्षी है—मृदुता। मान है तो मृदुता के स्पंदन पैदा करो। माया का प्रतिपक्षी है—ऋजुता। माया है तो ऋजुता के स्पंदन पैदा करो। लोभ का प्रतिपक्षी है—संतोष। लोभ है तो संतोष के स्पंदन पैदा करो। यह उपदेश नहीं, सत्य का प्रतिपादन है। (इस 'प्रतिपक्ष' संवेदन के द्वारा 'पक्ष' के संवेदनों को नष्ट किया जा सकता है।)

किसी को मोह हो रहा है, शोक हो रहा है, विषाद हो रहा है, एकत्व की अनुप्रेक्षा करो, एकत्व के स्पंदन पैदा करो, मोह के स्पंदन समाप्त हो जाएंगे।

एक स्त्री थी। उसका नाम था 'अतुंकारीभट्टा'। उसमें क्रोध के इतने स्पंदन होते कि सर्पिणी से भी वह अधिक फुफकारती। उसने उपशम की बात को समझा। उसका क्रोध शांत हो गया। क्रोध का प्रतिपक्ष है उपशम। उपशम के स्पंदन क्रोध के स्पंदनों को नष्ट कर देते हैं।

एक जिज्ञासा हो सकती है कि प्रतिपक्ष की भावना से 'पक्ष' के स्पंदन नष्ट हो जाते हैं तब हम खाने का कष्ट ही क्यों करें? जब भूख के स्पंदन होने लगे तब हम भोजन के स्पंदनों का अनुभव करें, भूख शांत हो जाएगी। क्या ऐसा हो सकता है? इसे हमें समझना है। प्रतिपक्ष भावना का प्रयोग जीव-विपाकी स्थितियों में ही किया जा सकता है। कुछ स्पंदन ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव केवल पुद्गल पर ही होता है, हमारे शरीर पर ही होता है। कुछ स्पंदन ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव चैतन्य पर भी होता है। मूर्च्छा के या मोह के जितने स्पंदन हैं—ये सारे जीव-विपाकी हैं इनका प्रभाव हमारे चैतन्य पर होता है। शुभ-अशुभ वेदनीय का प्रभाव पुद्गलों पर होता है। भूख को प्रतिसंवेदी स्पंदनों के द्वारा मिटाया जा सकता है।

विषय रमण : आत्म रमण

प्रतिपक्षी स्पंदनों को उत्पन्न करने की बात अध्यात्मशास्त्र में विकसित हुई। जो भी स्पंदन हों, उन्हें देखो-जानो। विपाक-विचय करो। देखो-जानो। तत्काल प्रतिपक्षी स्पंदन शुरू करो। विषाद, घृणा, शोक, क्रोध—ये सारे समाप्त हो जाएंगे।

किसी में वासना के स्पंदन, काम के स्पंदन होते हैं। काम के स्पंदनों को समाप्त करने के लिए प्रतिपक्षी स्पंदन पैदा करने हैं। एक है 'पररसी' स्पंदन और एक है 'आत्तरसी' स्पंदन। एक है—विषय-रमण और एक है—आत्म रमण। हमारी ऊर्जा, विद्युतशक्ति, प्राणशक्ति जो मस्तिष्क में होती है वह जब नीचे की ओर प्रवाहित होती है तो काम के स्पंदन होते हैं। वे स्पंदन सुख की अनुभूति कराते हैं। सुख का अनुभव स्पंदनों में है, किसी वस्तु में नहीं। ये स्पंदन अन्य अपकरणों के द्वारा भी पैदा किए जा सकते हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं आएगा।

ऋण विद्युत् : धन विद्युत्

कामकेन्द्र की ओर प्रवाहित होने वाली ऊर्जा से काम के स्पंदन पैदा होते हैं। उनमें सुख की अनुभूति होती है। मनुष्य सुख मानता है। अब उन स्पंदनों के प्रतिपक्षी स्पंदन पैदा करने के लिए हमें उल्टा चलना पड़ेगा। हमें प्रतिसंलीनता करनी पड़ेगी। मस्तिष्क की धन-विद्युत् है, पोजेटिव विद्युत् है और कामकेन्द्र की ऋण-विद्युत् है, नेगेटिव विद्युत् है। सहस्रार चक्र में जब प्राणधारा का प्रवाह चलेगा तब आत्तरसी स्पंदन पैदा होंगे। उन स्पंदनों से जो सुख की अनुभूति होगी वह अपूर्ण होगी। इसकी तुलना में कामकेन्द्र के स्पंदनों से होने वाली सुख की अनुभूति नगण्य है। जो व्यक्ति उस अनुभूति तक पहुंच जाता है, वह वहां से नीचे उतरना नहीं चाहता। घंटों तक सुख की अनुभूति में लीन रहता है। वहां से हटने के बाद भी विषाद नहीं होता। उसे उल्टा अधिक आनन्द, अधिक उल्लास और अधिक शक्ति का अनुभव होता है।

एक प्रश्न है—सुख क्या है? ऋण विद्युत् का धन विद्युत् के साथ जो योग है, वह सुख है। यह सामान्य सुख नहीं, आध्यात्मिक सुख है। कामकेन्द्र की निषेधात्मक शक्ति है। उसका योग जब विधायक शक्ति के साथ होता है तब आध्यात्मिक सुख उत्पन्न होता है। तब विचित्र प्रकार के स्पंदन पैदा होते हैं।

विद्युत् का परिवर्तन

हमारे चैतन्य का, ज्ञान का केन्द्र है नाड़ी-संस्थान। यह समूचे शरीर में परिव्याप्त है। किन्तु पृष्ठरज्जु के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान चैतन्य का मूल केन्द्र है। आत्मा की अभिव्यक्ति का यही स्थान है। संवेदन, प्रतिसंवेदन, ज्ञान—सारे यहीं से प्रसारित होते हैं। शक्ति का भी यही स्थान है। ज्ञानवाही और क्रियावाही तंतुओं का यही केन्द्रस्थान है। मनुष्य ऊर्जा को अधोगामी करना ही जानता है, ऊर्ध्वगामी करना नहीं जानता। केवल दिशा का ही परिवर्तन हुआ कि जो

शक्ति नीचे की ओर जाती थी वह ऊपर की ओर जाने लगती है। इतना-सा ही अन्तर पड़ता है। मस्तिष्क की ऊर्जा का नीचे जाना भौतिक जगत् में प्रवेश करना है। कामकेन्द्र की ऊर्जा का ऊपर जाना अध्यात्म जगत् में प्रवेश करना है। ऊर्जा के नीचे जाने से पौद्रलिक सुख की अनुभूति होती है। ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म सुख की अनुभूति होती है। यह केवल विद्युत् का परिवर्तन है। इसे कहा गया— अन्तर्मैथुन, आत्मरति, आत्मरमण। आत्मरमण की बात व्यर्थ नहीं है। प्रश्न ठीक है। इसके समाधान में कहा गया कि आत्म-रमण का केन्द्र हमारे पास विद्यमान है, इसमें हम रमण कर सकते हैं।

बिन्दु है ग्रे मैटर

शरीर में सात धातुएं हैं। सातवां धातु है—शुक्र, वीर्य। कहा गया —मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्—बिन्दु के पात से मरण होता है और बिन्दु के धारण से जीवन प्राप्त होता है। बिन्दु क्या है—इसे ठीक समझना है। मस्तिष्क में, जो प्राण ऊर्जा है, यह जो ग्रे मैटर (Grey matter) है, यह जो धूसर हिस्सा है, यही है बिन्दु, यही है वीर्य। 'सहस्रारोपरि बिन्दु'—सहस्रार के ऊपर बिन्दु की अवस्थिति है। उस बिन्दु के साथ जब शक्ति का मिलन होता है तब आत्म-रति पैदा होती है।

आरोहण का पथ

बिन्दु के पात से मरण और बिन्दु के रक्षण से जीवन—यह बात बिल्कुल ठीक है। जब प्राण की ऊर्जा नीचे जाती है तब मनुष्य मरता है और जब प्राण की ऊर्जा ऊपर जाती है तब मनुष्य जीता है, अमर हो जाता है। वह आत्मा को प्राप्त कर लेता है। यह आत्मा के आरोहण का मार्ग है, अध्यात्म के विकास का मार्ग है। जब तक मनुष्य की चेतना नाभि के नीचे के केन्द्रों के आसपास ही उलझी रहती है तब तक आरोहण नहीं होता। गुणस्थानों के क्रमारोहण की बात भी यही है। जब ऊर्जा का निम्नगामी प्रवाह होता है तब मनुष्य पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान में भी रहता है। जब चौथा गुणस्थान आता है तो विवेक की प्रज्ञा जागती है और ऊर्जा की नाभि के आसपास आती है। फिर क्रमशः आरोहण होता है। साधक ऊपर उठता है। वह सुषुम्ना के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र तक पहुंचता है और धीरे-धीरे आगे बढ़ता हुआ केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, आत्मा का साक्षात्कार-हो जाता है। यह मार्ग छोटा है। यात्रा भी छोटी है। परन्तु है बहुत ही महत्वपूर्ण। इसमें खपना

पड़ता है। सुषुम्ना से चलना और सहस्रार तक पहुंचना—इतना-सा करना है। रास्ता छोटा है। केवल चढ़ाई ही चढ़ाई है। आरोहण ही आरोहण है।

आवश्यक है श्रद्धा

इस आरोहण में श्रद्धा का होना अत्यन्त आवश्यक है। हम श्रद्धा को समझें। श्रद्धा क्या है? जब चेतना सहस्रार केन्द्र में जाती है; उसमें लीन हो जाती है, उस चेतना का काम नाम है—श्रद्धा। श्रद्धा तीव्र लालसा है, तीव्र प्यास है। इतनी तीव्र प्यास है कि वह समुद्र के समूचे पानी को पी लेने पर भी नहीं बुझती। इस गहरी प्यास का नाम है श्रद्धा। यह अवचेतन मन के स्तर पर होती है।

उपासक के लिए एक विशेषण आता है—‘अष्टिमिजपेम्माणुरागरते’। उपासक या श्रावक वह होता है, जिसकी अस्थि-अस्थि और मज्जा-मज्जा में धर्म का अनुराग प्रविष्ट हो जाता है। अस्थि और मज्जा में धर्म कैसे प्रविष्ट होता है—यह एक प्रश्न है। क्या अस्थि और मज्जा के साथ श्रद्धा और भावना का कोई संबंध है। अस्थि का एक अर्थ है—हड्डी और दूसरा अर्थ है—पृष्ठरज्जु। मज्जा का अर्थ भी मस्तिष्क और पृष्ठरज्जु का वह धूसर भाग है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। श्रद्धा या भावना का वहां तक पहुंचना ही धर्म के अनुराग का अस्थि-मज्जा में प्रवेश करना है। यहां तक श्रद्धा के पहुंच जाने पर वह दृढ़ हो जाती है। वही फलवती होती है।

अनुराग अस्थि-मज्जा वात बने

जब तक श्रद्धा अवचेतन मन तक नहीं पहुंचती, उसका कोई परिणाम नहीं होता। आज व्यक्ति एक दिशा में श्रद्धा करता है, एक ओर आकर्षण करता है और दूसरे दिन उसकी श्रद्धा का प्रवाह किसी दूसरी ओर जाता है तो वह श्रद्धा नहीं है। इसे ही यदि श्रद्धा मान लिया जाए तो इससे बढ़कर और झूठ क्या हो सकता है?

एक व्यक्ति एक स्त्री के प्रति मोहित हो गया। उसने उसे कुछ वशीकरण प्रयोग सिखा दिया। वह स्त्री उसके प्रति अनुरक्त हो गयी। अब उस व्यक्ति के सिवा कोई दूसरा व्यक्ति दीखता ही नहीं था। वह उसके प्रति पागल हो गयी। घरवाले चिन्तित हुए। एक मंत्रविद् को बुलाया। उसने घरवालों से कहा—“इसका अनुराग अस्थि-मज्जा तक पहुंच गया है। जब तक उसका परिशोधन नहीं होगा तब तक वह व्यक्ति ही इसे दीखता रहेगा, वह इसके मन से हटेगा नहीं।” मंत्रविद् ने उस स्तर तक परिशोधन किया। अस्थि-मज्जा से उस अनुराग को निकाला और वह स्त्री पूर्ण स्वस्थ हो गयी।

जो बात अस्थि-मज्जा तक पहुंच जाती है, फिर वह विस्मृत नहीं हो सकती। सुषुम्ना और सहस्रार—ये दो शक्तिशाली केन्द्र हैं। अनुभवी साधकों ने इन्हें बहुत महत्त्व दिया है। जब यह श्रद्धा पैदा हो जाती है कि आध्यात्मिक सुख ही बड़ा सुख है और यह उस अवचेतन मन के स्तर पर पहुंच जाती है तब अध्यात्म के स्पंदनों का, चैतन्य के स्पंदनों का, धनात्मक विद्युत् या प्राण ऊर्जा के स्पंदनों का अनुभव होने लगता है। श्रद्धा स्थिर होती है, गति बदल जाती है।

धर्म श्रद्धा और अनौत्सुक्य

भगवान् महावीर से पूछा गया—“धर्म श्रद्धा से क्या होता है? उसका परिणाम क्या होता है?” भगवान् ने कहा—“धर्म श्रद्धा से अनौत्सुक्य पैदा होता है। उत्सुकता समाप्त हो जाती है।” जिन स्पंदनों के प्रति, पौद्गलिक स्पंदनों के प्रति उत्सुकता थी, वह धर्म की श्रद्धा जागने से मिट जाती है। सारी उत्सुकता समाप्त हो जाती है। उत्सुकता समाप्त होते ही अध्यात्म के स्पंदनों का अनुभव होने लग जाता है। अध्यात्म के स्पंदनों का अनुभव करने का एक उपाय है काम-केन्द्र की ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाना। संकल्प करें और अपान देश के स्नायुओं को ऊपर की ओर उठाएं। यदि यह प्रयोग १५-२० मिनट या आधा घंटा तक चलता है तो आध्यात्मिक सुख के स्पंदन प्रारम्भ हो जाते हैं।

मार्ग है अध्यात्म

जीभ की विद्युत् है—ऋणात्मक और सिर की विद्युत् है—धनात्मक। जीभ को तालु से लगाएं। अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। आत्मरति जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत् का योग और भावना का प्रयोग— ये आध्यात्मिक स्पंदन पैदा करते हैं। जैसे-जैसे ये स्पंदन गहरे होते जाते हैं, वैसे-वैसे पौद्गलिक स्पंदन छूटते जाते हैं। ऐसा लगने लगता है कि मानो लोह छूट रहा है और स्वर्ण मिल रहा है, झोपड़ी छूट रही है और प्रासाद मिल रहा है।

यह विषय तर्क का नहीं है, अनुभव का है। तर्क के द्वारा यहां तक नहीं पहुंचा जा सकता। चाहे बृहस्पति भी आ जाएं, वे भी अपनी प्रखर प्रज्ञा से इस तथ्य को समझा दें, फिर भी श्रोता बिना अभ्यास के वहां तक नहीं पहुंच सकता। यह अनुभव का मार्ग है। अभ्यास करते जाओ, वहां तक पहुंच जाओगे। अभ्यास-काल में अनेक अवरोध आ सकते हैं, रुकना भी पड़ता है, पीछे भी हटना होता है, फिर भी यही एकमात्र मार्ग है अध्यात्म—सुख के अनुभव का।

अनुभव जागे

समूचे विश्व के पौद्गलिक सुखों को हम राशिकृत कर लें फिर भी वे शुद्ध चैतन्य के स्पंदनों से उत्पन्न सुख की तुलना में नगण्य है। अध्यात्म के सुखों की बात सुनने में अच्छी लग सकती है और साथ ही साथ चित्त में संशय भी पैदा कर सकती है, उत्साह को उत्पन्न भी कर सकती है और नाना प्रकार के विकल्पों को उभार भी सकती है। ये सारी स्थितियां हैं। ये होती हैं। भाषा के माध्यम से कहने वाला, चाहे फिर वह केवली हो, तीर्थंकर या सामान्य साधक, दोनों स्थितियों से बचना नहीं सकता। सुनने वाले कुछ लोगों का मन प्रेरणा से भरेगा तो कुछ लोगों का मन संशय से व्याप्त होगा। दोनों बातें हो सकती हैं। प्रेरणा पाकर चलने वाले का भी एक ही मार्ग है—अनुभव का और संशय को मिटाने का भी एक ही मार्ग है—अनुभव का। इसके सिवाय कोई रास्ता नहीं है। साधना का एकमात्र प्रयोजन यही है कि वे स्पंदन पकड़ में आ जाएं, रास्ता खुल जाए और यह स्पष्ट अवभाषित हो कि ऐसा भी सुख है जिसका बाहर से कोई नाता नहीं है।

जो अध्यात्म के स्पंदनों को जानता है, वह भीतर के स्पंदनों को जानता है और जो बाहर के स्पंदनों को जानता है वह भीतर के स्पंदनों को जानता है। दोनों को जानकर ही वह भीतर के स्पंदनों के प्रति अनुरक्त हो जाता है। वह साक्षात् कर लेता है कि ये स्पंदन अधिक सुखद, अधिक निरपवाद, अधिक लाभदायी और अधिक आनन्दमय हैं। वह उसी ओर चल पड़ता है।



गृहस्थ जीवन का आकर्षण क्यों ?

एक शब्दों का युगल है आकर्षण और विकर्षण, प्रियता और अप्रियता । एक वस्तु अपनी ओर खींचती है, उसके प्रति आकर्षण होता है । एक वस्तु विमुख बनाती है, पीठ को घुमा देती है । उसके प्रति हमारा विकर्षण होता है । कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसके प्रति सबका आकर्षण हो और कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसके प्रति सबका विकर्षण हो । आकर्षण और विकर्षण—दोनों सापेक्ष हैं । किसी का किसी के प्रति आकर्षण और किसी का किसी के प्रति विकर्षण होता है । प्रश्न प्रस्तुत हुआ—गृहस्थ जीवन का आकर्षण क्यों ?

प्रतिपक्ष के बिना अस्तित्व नहीं

प्राचीनकाल में आश्रम की व्यवस्था थी । आश्रम को मुख्यतः दो भागों में बांटा गया—गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम । हिन्दुस्तान में दो प्राचीन परम्पराएं रही हैं—श्रमण परम्परा और ब्राह्मण परम्परा । ब्राह्मण परम्परा में संन्यास के लिए स्थान नहीं था । उसमें गृहस्थाश्रम का महत्त्व अधिक था । श्रमण परम्परा में संन्यास को बहुत महत्त्व दिया गया । ऐसा लगता है—एक सिद्धांत के महत्त्व को कम करने के लिए उसके प्रतिपक्ष पर अधिक बल दिया गया । पक्ष के लिए प्रतिपक्ष का होना जरूरी है । अनेकान्त का सिद्धांत है—जिसका अस्तित्व है, उसका कोई न कोई प्रतिपक्ष है । विज्ञान का सिद्धांत है—बॉडी के साथ एन्टीबॉडी का होना अनिवार्य है । प्रतिपक्ष के बिना किसी का अस्तित्व नहीं है । एक ओर गृहवास का महत्त्व तथा दूसरी ओर मुनि-धर्म का महत्त्व । श्रमण और ब्राह्मण—दोनों परम्पराओं में एक एक बात को अधिक महत्त्व दिया गया । यदि दोनों को मिलाएं तो जीवन का समग्र दर्शन प्रस्तुत होता है ।

ज्येष्ठाश्रम : गृहस्थाश्रम

गृहस्थ के बिना संन्यास नहीं होता और संन्यास न हो तो गृहस्थ का महत्त्व नहीं रहता, उसमें शुद्धि और पवित्रता नहीं रहती । गृहवास एवं गृहत्याग—दोनों का अपना अपना महत्त्व है । ब्राह्मण परम्परा में चार प्रकार के आश्रम माने गए हैं—

ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम। जीवन को चार भागों में बांट दिया गया— पचीस वर्ष तक विद्यार्थी जीवन, पचीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन, पचीस वर्ष तक वानप्रस्थ जीवन और पचीस वर्ष तक संन्यास जीवन। ब्राह्मण परम्परा की मान्यता रही—इन चार आश्रमों में सबसे बड़ा है गृहस्थ आश्रम। महाभारत में इसका बहुत समर्थन किया गया। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—गृहस्थ आश्रम सबसे बड़ा कैसे? इस प्रश्न के सन्दर्भ में कहा गया—ब्रह्मचर्य आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम—इन तीनों को धारण कौन करता है? इनका भरण-पोषण कौन करता है? ज्ञान और अन्न—दोनों दृष्टियों से ये तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर अवलम्बित हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम के व्यक्तियों को गृहस्थ-पण्डित पढ़ाते हैं, अध्यापक पढ़ाते हैं। उनके अन्न की व्यवस्था भी गृहस्थ ही करते हैं। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की व्यवस्था का उत्तरादायित्व भी गृहस्थ वहन करता है। मनुस्मृति का प्रसिद्ध श्लोक है—

*यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो, ज्ञानेनात्रेन चावहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥*

ज्ञान और अन्न के द्वारा तीनों आश्रमों को गृहस्थ ही धारण करता है, इसलिए वह ज्येष्ठाश्रम है, सबसे बड़ा आश्रम है।

चिन्ता का सम्बन्ध गृहस्थ के साथ

एक व्यक्ति दीक्षित हो रहा है, मुनि बन रहा है। किसी दूसरे व्यक्ति से कहा जाए—यह मुनि बन रहा है तुम भी मुनि बन जाओ। उस व्यक्ति का तर्क होता है—आप कहते हैं, दीक्षा लो, दीक्षा लो। यदि सब दीक्षित हो जाएंगे तो आपको भिक्षा कौन देगा, भोजन कौन देगा? गृहस्थ के बिना साधुत्व को आधार ही नहीं मिलता। इसलिए गृहस्थ आश्रम बहुत कठिन है, घोर है। एक गृहस्थ को बहुत दायित्व निभाने होते हैं। एक साधु के क्या जिम्मेवारी है? कहा जाता है—सधु के हाथ बगल में हैं। उसे कोई चिन्ता नहीं होती। एक गृहस्थ कहीं भी चला जाए, चिन्ता उसके साथ रहती है। वह सोचता रहता है—गांव में कैसे चल रहा है? परिवार के लोग कैसे हैं? पत्नी का स्वास्थ्य कैसा है? लड़के क्या काम कर रहे हैं? पढ़ रहे हैं या नहीं पढ़ रहे हैं? किसी बुरी संगत या बुरी लत में तो नहीं पड़ गए हैं? घर की सुरक्षा का प्रश्न भी उसके सामने होता है। घर में कोई चोर न घुस जाए? कहीं नुकसान न हो जाए? एक गृहस्थ ऐसी अनेक चिन्ताओं से सदा प्रस्त

रहता है। कहा गया— एक ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक, जो श्रमणभूत होता है, साधु-तुल्य होता है, अनेक चिन्ताओं से आक्रांत रहता है। साधु-तुल्य होने पर भी वह गृहस्थ है, चिन्ता से मुक्त नहीं है। उसे पूरे परिवार की स्मृति हो रही है, उसकी दुकानें चल रही हैं, घर-बार चल रहा है। इन सबसे उसका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। एक दिन उसे वापिस वहीं जाना है।

कठिन है गृहस्थ जीवन

प्रश्न हो सकता है—एक गृहस्थ, जो श्रमणभूत बन गया, उसका परिवार से रिश्ता क्यों नहीं टूटा? शास्त्रों में बतलाया गया—उसके प्रेम का, राग का जो धागा है, वह टूटा नहीं है। वह परिवार से रागात्मक रूप से जुड़ा हुआ है। वह श्रमणभूत बन गया फिर भी वह घर-बार से रागात्मक तंतु से बंधा हुआ है। जब मारणान्तिक समुद्घात होता है, आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं, बहुत दूर तक चले जाते हैं। मरने के बाद आत्मा को जहां पैदा होना होता है, वहां तक आत्मा के प्रदेश पहुंच जाते हैं किन्तु चेतना का एक धागा जुड़ा रहता है, जिसे रजतसूत्र या सिल्वरकोर्ड कहा जाता है। आत्मा के प्रदेश उस धागे से निरन्तर जुड़े रहते हैं, संपर्क बना रहता है। इसी प्रकार एक गृहस्थ का भी अपने परिवार से लगाव बना रहता है। वह परिवार की चिन्ता से मुक्त नहीं हो सकता।

जैन विश्व भारती परिसर में युवालोक के पास एक जनरल स्टोर है। प्रबंधक ने बताया—हमारे यहां पन्द्रह सौ आइटम हैं। मैंने पूछा—इनका क्या उपयोग है? उसने बताया—ये भी कम पड़ रहे हैं। हमें और चाहिए। एक मुनि से कहा जाए—नाममाला कण्ठस्थ करो, उसके पन्द्रह सौ श्लोक हैं। उसे इतने श्लोक कठस्थ करना बहुत भारी लगता है। एक गृहस्थ को, जो रोज दुकान पर बैठता है, पन्द्रह सौ आइटम याद रखने पड़ते हैं। कब, कौन, किस चीज के लिए आ जाए, कोई पता नहीं चलता। जहां बड़े-बड़े जनरल स्टोर होते हैं, वहां हजारों-हजारों तरह के आइटम होते होंगे। इन सबको याद रखना बहुत मुश्किल होता है किन्तु एक गृहस्थ को यह दायित्व निभाना पड़ता है। उसके अनेक जिम्मेदारियां और अनेक प्रकार की चिन्ताएं होती हैं।

आकर्षण क्यों?

प्रश्न होता है—जब गृहस्थाश्रम इतना कठोर है तब व्यक्ति मुनि क्यों नहीं बन जाता? संन्यासी क्यों नहीं बन जाता? क्यों वह घर में बैठा रहता है? जब नमि राजर्षि बने, तब उनके साथ मिथिला का समाज मुनि क्यों नहीं बना? एक गृहस्थ मुनि क्यों नहीं बनता? एक गृहस्थ का घर के प्रति आकर्षण क्यों है? इसका

कारण क्या है? अध्यात्म के क्षेत्र में इसका हेतु बतलाया गया—

**इन्द्रियाणि प्रधानानि, मानसञ्चापि चंचलम् ।
कषायरंजिता भावाः, तावदाकर्षणं गृहे ॥**

जब तक इन्द्रियां प्रधान बनी रहती हैं, मन चंचल है और भाव कषाय रंजित है तब तक घर के प्रति आकर्षण बना रहता है ।

इन्द्रियों की प्रधानता, मन की चंचलता और कषायात्मक भाव व्यक्ति को गृहस्थ जीवन में बनाए हुए हैं । जब तक व्यक्ति पर इन्द्रियों का आधिपत्य है, तब तक वह हजारों कष्ट सह लेगा किन्तु मुनि बनने की बात नहीं सोचेगा, घर छोड़ने की बात उसके मन में पैदा नहीं होगी । चारों ओर से इन्द्रियां व्यक्ति को खींच रही हैं । उस खिंचाव से मुक्त हुए बिना आकर्षण की दिशा में बदलाव नहीं आ सकता । जब तक मन की चंचलता है तब तक घर का आकर्षण कम नहीं हो सकता । जब मन चंचल होता है, व्यक्ति अपने आकर्षण कम नहीं कर सकता । जब तक भाव कषाय से रंगे हुए हैं, घर का आकर्षण कम नहीं होता । जब व्यक्ति रंगीन चश्मा लगाता है तब उसे सब कुछ रंगीन ही रंगीन दिखाई देता है । जिस व्यक्ति का मन कषाय से रंजित है, उसे लगेगा—जो सुख है, वह घर में ही है । घर के बाहर दुःख ही दुःख है ।

घर में रहना ही सुख है ?

पूज्य कालूगणी का चातुर्मास उदयपुर में था । चातुर्मास के दौरान दीक्षा हो रही थी । दीक्षा ले रहा था उदयपुर का एक किशोर । सारे उदयपुर में तहलका मच गया । औरों की बात ही क्या, बाजार में सब्जी बेचने वाले कूजड़े-कूजड़ी कहने लगे—देखो ! बेचारा छोटा लड़का घर छोड़कर जा रहा है । इसने संसार में क्या भोगा ? इसने क्या देखा संसार का सुख ? इन स्वयं में उनकी पीड़ा बोल रही थी । उनको दीक्षा से क्या लेना-देना था, पर जब तक भाव कषाय से रंगे हुए हैं, तब तक व्यक्ति को लगता है—घर में रहना ही सुख है । घर के बाहर दुःख ही दुःख हैं । जब कोई साधु बनता है, घरवाले उसके सामने विशाल दुःखों प्रदर्शन करते हैं, दुःखों का अंबार-सा लगा देते हैं ।

मृगापुत्र ने माता-पिता के सामने मुनि बनने का संकल्प व्यक्त किया । उसे विचलित करने के लिए माता-पिता ने मुनि-जीवन के कष्टों की गाथा गाई । यदि उसका मानस थोड़ा-सा भी कच्चा होता तो वह साधु बनने का नाम ही नहीं लेता ।

आज भी वही बात चल रही है। कोई व्यक्ति मुनि बनता है तो उसे बहुत दुःख दिखाए जाते हैं। ऐसा लगता है—मानो गृहस्थ में ही सातों सुख है। 'सातों सुख' यह एक बहुत प्रचलित शब्द है। इसका तात्पर्य है—सब प्रकार के सुख हैं, कोई दुःख है ही नहीं। सारा दुःख साधु जीवन में ही इकट्ठा हो गया। जब तक इन्द्रियों की प्रधानता रहेगी, मन की चंचलता प्रबल होगी, कषायों का रंगीन चश्मा हमारी आंखों पर चढ़ा रहेगा तब तक यह चिन्तनधारा बनी रहेगी।

प्रभाव रंगों का

यह दुनिया इकरंगी नहीं है। इसमें नाना रंग हैं। जिस बगीचे में केवल एक रंग के फूल होते हैं, वह बगीचा जनता को अच्छा नहीं लगता। यह दुनिया बहुरंगी है, इसमें नाना प्रकार के फूल खिलते हैं और वे नाना प्रकार के रंगों से रंजित हैं। इसमें लाल रंग भी है, नीला रंग भी है। अगर लाल रंग नहीं होता तो सारे व्यक्ति सुस्त हो जाते, चुस्ती का कोई काम ही नहीं होता, सब आलसी, अकर्मण्य निठल्ले बन जाते, सारे दिन घर में पड़े रहते। उठने का कोई नाम ही नहीं लेता। हमारे शरीर में लाल रंग है, इसीलिए सक्रियता है, स्फूर्ति है। रूस में एक प्रयोग किया गया। भार ढोने वाले कुछ मजदूरों का चयन किया गया। लाल रंग के थैलों में औसत से अधिक सामान भरा गया। उसे लाल रंग के कमरों से उठाना था। मजदूरों ने मात्रा से अधिक सामान को स्फूर्ति, तत्परता और उत्साह से उठा लिया। उन्हें भार का कुछ पता ही नहीं चला। वही प्रयोग दूसरे स्थान पर किया गया। नीले रंग का कमरा और नीले रंग के थैले में सामान। मजदूरों का उत्साह मंद पड़ गया, उनकी भार उठाने की क्षमता में कमी आ गई, वे सुस्त हो गए।

रंग से प्रभावित है व्यवहार

हमारे भीतर लाल रंग है इसलिए हम बहुत सक्रिय हैं। यदि व्यक्ति के भीतर केवल लाल रंग ही होता तो वह दिन भर क्रोध से भरा रहता, निरन्तर लड़ाकू बना बना रहता। किन्तु व्यक्ति के भीतर नीला रंग भी है। वह लाल रंग को दबा रहा है, शांत कर रहा है। इसलिए आदमी समझदारी से काम लेता है, गुस्से को शांत कर लेता है। कभी लाल रंग प्रधान बन जाता है और कभी नीला रंग प्रधान बन जाता है, कभी सफेद या हरा रंग उभर आता है। रंग की प्रधानता के आधार पर व्यक्ति का व्यवहार एवं स्वभाव बनता है। प्रत्येक व्यक्ति में एक ही प्रकार का रंग नहीं होता। वह बदलता रहता है, उसमें कभी लाल मुख्य हो जाता है, कभी हरा और नीला मुख्य

हो जाता है। जब नमि राजर्षि ने मुनि बनने का संकल्प किया तब उनमें नीले और हरे रंग का उत्कर्ष रहा होगा। रंग न केवल व्यवहार को किन्तु समग्र जीवन को प्रभावित करते हैं।

परिणाम सुखद होना चाहिए

कुछ लोग घर को छोड़ना नहीं चाहते और कुछ लोग ऐसे बन जाते हैं जो घर में रहना नहीं चाहते। उनके लिए घर में एक पल रहना भी भारी होता है। ऐसा क्यों होता है? इसका एक कारण बताया गया—जब तक पुण्य का भोग है तब तक विवेक चेतना नहीं जागती। प्रवृत्ति काल में पुण्य का भोग सुखद होता है किन्तु वह परिणाम काल में दुःखद हो जाता है। एक अविवेकी आदमी के लिए पाप का परिणाम दुःखद होता है और पुण्य का परिणाम सुखद होता है। जिसकी विवेक चेतना जाग जाती है, उसके लिए पुण्य का परिणाम और पाप का परिणाम—दोनों दुःखद बन जाते हैं। यही बात उत्तराध्ययन में कही गई है—चक्रवर्ती के बहुत बड़ा साम्राज्य होता है, सुख भोग के प्रचुरतम साधन होते हैं फिर भी वे दुःखरूप हैं। क्योंकि जिसका परिणाम सुखद नहीं होता, वह वास्तव में दुखद ही होता है। मनुष्य चीनी खाता है। उसे चीनी खाने में मीठी लगती है। अगर वह खाने में मीठी नहीं लगती तो उसे कौन खाता? यह सफेद दानेदार चीनी दीखने में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट लगती है, किन्तु इसका परिणाम क्या होता है? डॉक्टर कहते हैं—एसिडिटी बढ़ाना है तो चीनी खाओ। जितनी ज्यादा चीनी खाओगे उतनी ज्यादा एसिडिटी बढ़ेगी। आजकल एसिडिटी की बीमारी बहुत चल रही है। इस अम्लता की बीमारी में चीनी का मुख्य हिस्सा है। चीनी खाने में मीठी है किन्तु परिणाम में अम्ल है। आंवला खाने में कसैला या खट्टा लगेगा पर वह परिणाम में मधुर है।

आयुर्वेद का कथन है—कुछ पदार्थ खाने में मधुर होते हैं, परिणाम में मधुर नहीं होते। कुछ पदार्थ खाने में मधुर नहीं होते, पर उनका परिणाम मधुर होता है। भारतीय चिन्तन और दर्शन की धारा में उसका मूल्य अधिक माना गया, जो परिणाम में सुखद होता है। उसका मूल्य बहुत कम माना गया, जो प्रवृत्ति काल में सुखद होता है। आगम का प्रसिद्ध सूक्त है— **खण्मेत्त सोक्खा बहुकाल दुक्खा**—सांसारिक भोग क्षण भर के लिए सुख देते हैं किन्तु बहुत काल के लिए दुःख देने वाले हैं। उपभोग काल में सुख देते हैं, परिणाम काल में दुःख देने वाले हैं इसीलिए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का आमंत्रण चित्त मुनि ने स्वीकार नहीं किया। भृगुपुत्रों की घटना भी यही संकेत देती है। पिता पुत्रों से कह रहा है—गृहवास मत

छोड़ो, घर को मत छोड़ो। पिता वृद्ध था और पुत्र बहुत छोटी आयु में थे। उलटी बात हो रही थी।

लोग कहते हैं—जब व्यक्ति बूढ़ा होता है, उसकी आकांक्षा कम हो जाती है। सचाई यह है—जैसे-जैसे व्यक्ति बूढ़ा होता है, उसकी आकांक्षा बढ़ती चली जाती है, मोह सघन बनता चला जाता है। वह सोचता है—मौत निकट आने वाली है, जितना भोग सकूँ, भोग लूँ, फिर यह सब साथ में चलने वाला नहीं है। सारा का सारा यहीं धरा रह जायगा। उसकी लालसा प्रबल हो जाती है।

संन्यास के तीन हेतु

भृगु ने अपने पुत्रों से पूछा—घर क्यों छोड़ रहे हो ? पिता के इस प्रश्न के उत्तर में पुत्र बोले—पिताजी ! आप कैसी बात कह रहे हैं। पहली बात है—‘असासयं ।’ यह गृहवास अशाश्वत है। एक दिन इसे छोड़कर चले जाना है। इसे आपको भी छोड़ना है, हमें भी छोड़ना है। दूसरी बात है—**बहुअन्तरायम्**—सांसारिक भोग में बहुत बाधाएं हैं। आज तक कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ है, जिसने सांसारिक भोगों को निर्विघ्नता से भोगा हो। तीसरी बात है—**न य दीहमाउं**—आयुष्य बहुत छोटा है, संक्षिप्त है। इस छोटे से जीवन को भोगों में बरबाद करना उचित नहीं है। इसलिए घर में रहना हमें पसंद नहीं है, स्वीकार नहीं है। गृहत्याग के ये तीन कारण बड़े महत्वपूर्ण हैं। अशाश्वतता, बहुविघ्नता और आयुष्य की अल्पता—

*असासयं ददु इमं विहारं, बहुअन्तरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसिं न रइं लहामो, आमंतयामो चरिस्सामु मोणं ॥*

अमृतत्व का आश्वासन

वासुदेव कृष्ण ने थावच्चा पुत्र से कहा—तुम अभी दीक्षित मत बनो। गृहवास को भोगकर दीक्षित हो जाना।

थावच्चा पुत्र ने कहा—महाराज ! यदि आप दो बातों का आश्वासन दें तो मैं दीक्षा नहीं लूंगा। पहली बात है—मैं कभी मरूँगा नहीं। दूसरी बात है—मैं कभी बीमार नहीं बनूँगा। अमृतत्व और आरोग्य—इन दो बातों का आश्वासन दें।

कभी-कभी छोटी अवस्था वाला भी प्रौढ़ बात कह जाता है, गंभीर चिंतन दे देता है। इस गंभीर प्रश्न को सुनकर वासुदेव स्तब्ध रह गए।

वासुदेव कृष्ण ने कहा—मैं तुम्हें राज्य दे सकता हूँ, राजा बना सकता हूँ, धनवान् बना सकता हूँ किन्तु अमर बनाना मेरे वश की बात नहीं है।

थावच्चा पुत्र ने कहा—मेरा भी घर में रहना सम्भव नहीं है।

जिस व्यक्ति में यह अमृतत्व की भावना, शाश्वत की भावना जाग जाती है, जिसकी विवेक चेतना प्रबुद्ध हो जाती है उसका घर के प्रति आकर्षण हो नहीं सकता। जैन, वैदिक और बौद्ध—तीनों धाराओं में ऐसी हजारों घटनाएं घटी हैं। जिनमें विवेक चेतना जाग जाती है, उनका घर में रहना भारी हो जाता है।

दहेज : वर्तमान मानस

जम्बूकुमार की घटना विश्रुत है। आज लोग दहेज के नाम पर बहुत लुभावने सपने देखते हैं। वे समझते हैं—दहेज बहुत आ गया तो निहाल हो गए। दूसरों की रोटियों पर आकर्षक सपना देखना अत्यन्त विचित्र लगता है। किसी व्यक्ति को अपने लड़के की शादी में पांच-दस लाख का दहेज मिल जाता है तो वह मानता है—सब कुछ मिल गया। यदि जम्बूकुमार को जितना दहेज मिला था उसे सुनें तो मुंह में पानी आ जाए। जम्बूकुमार को निन्यानवें करोड़ सोनैये दहेज में मिले थे। आज किसी आदमी को इतना मिल जाए तो वह सीधा अरबपति बन जाए। उस समय निन्यानवें करोड़ सोनैयों कर मिलना महान् घटना थी। सामान्य आदमी इन रूपों के भार से दब जाए किन्तु जम्बूकुमार के मानस में कोई प्रकंपन नहीं हुआ। उसकी आकर्षण की दिशा बदल चुकी थी। इतना बड़ा दहेज और आठ नवयौवनां कन्याएं, किन्तु जम्बूकुमार का उनसे कोई लगाव नहीं। सुहागरात के दिन जम्बूकुमार कहता है—मैं दीक्षा लूंगा। आठों नव-यौवनाएं उसे रोकने का प्रयत्न कर रही हैं। जम्बूकुमार में कोई विचलन पैदा नहीं हुई। वह सूर्योदय होते ही विशाल परिकर के साथ मुनि बन गया।

विवेक चेतना : अविवेक चेतना

क्या ऐसा होना सम्भव है? क्या यह अनहोनी बात नहीं है? आठ नवयौवना कन्याएं और अपार दहेज सामने प्रस्तुत है, उसके प्रति किंचित् भी आकर्षण न हो? जिसकी विवेक चेतना जाग जाती है, उसके सामने निन्यानवें अरब रूपए आ जाएं तो वे उसके लिए सिवाय मिट्टी के कुछ नहीं है। जब विवेक चेतना जागती है, मनुष्य का मन भौतिकता के पाश में आबद्ध नहीं होता। एक ओर है प्रियता का संसार तथा दूसरी ओर है विवेक का संसार। जब तक विवेक जागृत नहीं है तब तक गृहस्थ जीवन का आकर्षण कम नहीं होता। अविवेक की चेतना में व्यक्ति का घर के प्रति आकर्षण बना रहता है। उसे ऐसा लगता है—जो कुछ सुख है, वह संसार में ही है। जैसे ही विवेक जागता है, व्यक्ति को लगता है—संसार में कुछ भी नहीं है, गृहस्थ के भोगों का कोई मूल्य नहीं है। जब तक आदमी की एक प्रकार की चेतना होती है, उसे

पदार्थ ही सब कुछ लगते हैं। जब चेतना का रूपान्तरण होता है, प्रियता की चेतना बदलती है, विवेक की चेतना जागती है तब सारे मूल्य निर्मूल्य बन जाते हैं। यह मूल्यों का संसार है। एक अवस्था में आदमी एक चीज को मूल्य देता है और दूसरी अवस्था में उसे निर्मूल्य बना देता है।

मूल्य का मानदण्ड

पूज्य कालूगणी रुग्ण अवस्था में थे। अनेक साधु बहुत दूर से धूल की पोटलियां बांध-बांध कर लाते। एक दिन कालूगणी ने कहा—हमारे लिए धूल का भी कितना मूल्य है? साधु कितने श्रम से दूर-दूर से धूल ला रहे हैं? मेवाड़ में धूल का मिलना कितना मुश्किल है। एकदम शुद्ध बालू, चांदी जैसी चमकती हुई रेत का मेवाड़ में जितना मूल्य है उतना थली प्रदेश में नहीं है। थली में रेतिले टिब्बे बहुत हैं और वहां ऐसी बालू बहुत ज्यादा सुलभ है। मेवाड़ में वह दुर्लभ है इसलिए मेवाड़ में दूर से रेत लाना भी मूल्यवान् कार्य बन गया। मूल्य देना या मूल्य न देना—दोनों सापेक्ष हैं। एक अवस्था में गृहवास, धन और पदार्थों का बहुत मूल्य है किन्तु जब चेतना बदल जाती है, विवेक जाग जाता है, ये सब बिलकुल फीके-फीके लगने लग जाते हैं। ये दोनों प्रकार की चेतनाएं, दोनों प्रकार की विचारधाराएं, दोनों प्रकार के चित्तन हमारे सामने रहे हैं।

जीवन की सार्थकता

ब्राह्मण ने नमि राजर्षि से कहा—राजन्! आप घोरश्रम—गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास आश्रम की इच्छा कर रहे हैं, यह उचित नहीं है। आप यहीं रहकर पौषध, अणुव्रत, तप आदि व्रतों का पालन करें।

घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्येसि आसमं ।

इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुजाहिवा ॥

नमि राजर्षि ने कहा—तुम गृहस्थ की भूमिका को ही जानते हो किन्तु स्वाख्यात धर्म की भूमिका से तुम परिचित नहीं हो। मैं जिस महान् स्थिति में जा रहा हूँ उसका मूल्य तुम नहीं जानते।

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए ।

न सो सुयक्खाय धम्मस्म कलं अग्घइ सोलसिं ॥

राजर्षि ने कहा—अविवेकी मनुष्य मास-मास की तपस्या के अनंतर कुश की नोक पर टिके उतना सा आहार करे तो भी वह स्वाख्यात धर्म की सोलहवीं कला को

भी प्राप्त नहीं होता ।

जो व्यक्ति धर्म की इस महत्ता को समझ लेता है, जिसकी विवेक चेतना जाग जाती है, उसका गृहस्थ जीवन में आकर्षण नहीं रहता । त्याग का जीवन कितना महान् और उदात्त है, इसका बोध होना जीवन की सार्थकता है । जिस दिन त्याग के मूल्यांकन की चेतना जागेगी, मनुष्य की विवेक चेतना उद्बुद्ध होगी, उसके आकर्षण की दिशा बदल जाएगी, उसका जीवन-दर्शन बदल जाएगा । वह भोग की नहीं, त्याग की दिशा में प्रस्थान करेगा



चिन्तन इन्द्रिय-चेतना का

आचार्य की सन्निधि में एक संगोष्ठी का आयोजन था। चर्चा थी आदि और अनादि की। आदि और अनादि—ये दोनों शब्द धर्म के क्षेत्र में बहुत प्रचलित रहे हैं। जीव की कोई आदि नहीं है, वह अनादि है। दस तत्त्व ऐसे हैं, जिनका अनादि परिणामन है। भवन, पट्ट आदि सादि हैं। जिनका आदि बिन्दु पकड़ा जा सकता है, वे सादि हैं। चर्चा के प्रसंग में शिष्य ने पूछा—भंते ! मेरी जिज्ञासा है—धर्म का आदि-पद क्या है ? धर्म का आदि-बिन्दु क्या है ?

धर्मस्यादिपदं किं स्याद् जिज्ञासा मम वर्तते ।

आचार्य ने उत्तर दिया—

इन्द्रियातीतविज्ञानं धर्मस्यादिपदं मतम् ।

धर्म का आदि बिन्दु है—इन्द्रियातीत विज्ञान। जब तक इन्द्रियातीत चेतना नहीं जागती, इन्द्रियातीत ज्ञान नहीं होता, धर्म समझ में नहीं आता। जिसमें इन्द्रियातीत चेतना का विकास नहीं है, उसके लिए धर्म का कोई अर्थ ही नहीं है।

दर्शन जगत् के दो विभाग

संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं—इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले और अतीन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाले। इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जो आदमी जीता है, धर्म की बात उसकी समझ में नहीं आ सकती। इन्द्रियों से परे कोई देखता है तो धर्म की बात समझ में आती है।

सारे दर्शन जगत् को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—इन्द्रिय चेतना के आधार पर चलने वाला दर्शन और इन्द्रियातीत चेतना के आधार पर चलनेवाला दर्शन। आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, कर्म—इन सबकी स्वीकृति इन्द्रियातीत चेतना की स्वीकृति है। स्वर्ग प्रत्यक्ष नहीं है, मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है, आत्मा और परमात्मा भी प्रत्यक्ष नहीं है, कर्म भी प्रत्यक्ष नहीं है, सब परोक्ष हैं। परोक्ष तत्त्वों को इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता।

एक दर्शन है चार्वाक, जिसे नास्तिक दर्शन कहा जाता है। वह केवल एक प्रमाण

मानता है—प्रत्यक्ष प्रमाण । वह केवल मानस प्रत्यक्ष, इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करता है । उसके सामने दूसरा कोई प्रमाण नहीं है । चार्वाक दर्शन में न आत्मा और परमात्मा का स्वीकार है, न पुनर्जन्म और कर्म का स्वीकार है, न स्वर्ग-नरक और मोक्ष का स्वीकार है । ये सारी चीजें इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देतीं इसलिए इनकी स्वीकृति चार्वाक दर्शन में नहीं हो सकती । इन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला सारा निर्णय इन्द्रियों के आधार पर करता है ।

प्रमाण की श्रृंखला : इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आगम तक

नास्तिक मत में, चार्वाक दर्शन में धर्म कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है और उसमें धर्म का प्रयोजन भी नहीं है । धर्म का प्रयोजन है मोक्ष और बंधन मुक्ति । नास्तिक के मन में न मोक्ष का प्रश्न है और न बंधन मुक्ति का प्रश्न है इसलिए उसमें धर्म का प्रश्न भी नहीं हो सकता । जहां केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्वीकार है वहां धर्म का आदि-बिन्दु है ही नहीं । उसके लिए धर्म अर्थहीन है । जिन दार्शनिकों ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आगे प्रमाण माना, उन्होंने प्रत्यक्ष के साथ अनुमान को भी प्रमाण माना । अनुमान को प्रमाण मानने से दर्शन की धारा बहुत लम्बी बन जाती है । जो इन्द्रियों से जाना जाता है, अनुमान के द्वारा उसका भी बहुत विकास हो जाता है । अनुमान से बहुत सारे नियमों का अध्ययन किया जाता है, अनेक नियम बना लिए जाते हैं, व्याप्ति और संबंध की योजना की जाती है । उससे भी आगे एक प्रमाण है—आगम । आगम का मतलब है—इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष का ज्ञान । जिसने इन्द्रियातीत ज्ञान से जाना, वह आगम बन गया ।

इन्द्रिय चेतना : चिन्तन का कोण

दो धाराएं बहुत स्पष्ट हैं—एक इन्द्रिय ज्ञान की धारा और दूसरी इन्द्रियातीत ज्ञान की धारा । जो केवल इन्द्रियों के स्तर पर जीने वाले हैं, उनका चिन्तन एक प्रकार का होगा । उनके चिन्तन का उत्तराध्ययन में बहुत सुन्दर चित्रण मिलता है—

जे गिद्धा कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खू दिट्ठा इमा-रई ॥

जो व्यक्ति इन्द्रियों की सीमा में जीता है, कामभोगों में आसक्त है, वह कोई ऐसा काम करता है, जो उसे नहीं करना चाहिए और यदि कोई व्यक्ति उसे कहता है—भाई ! तू कितना बुरा काम काम करते हो ! इसका आगे क्या फल होगा ? अगले जन्म में

क्या मिलेगा ? उसका उत्तर होता है—किसने परलोक देखा है ? इतने लोग परलोक की बात करने वाले हैं, क्या किसी ने परलोक देखा है ? और यह जो रति है, काम है, काम के विषय हैं, ये प्रत्यक्ष हैं । क्या प्रत्यक्ष को छोड़कर परोक्ष की बात करना मूर्खता नहीं है ? क्या परोसे हुए भोजन को छोड़कर आने वाले की आशा करना उचित है ? वह केवल इंद्रिय भोगों के प्रति अपनी सारी आस्था केन्द्रित करेगा । उनसे परे भी कुछ है, इस पर उसका कोई चिन्तन नहीं होता ।

यह चिन्तन अस्वाभाविक भी नहीं है । आदमी चौबीस घण्टा इंद्रिय के संक्रमण से घिरा रहता है, उसका सारा चिन्तन इंद्रियों की परिधि में सिमट जाता है । वह वर्तमान में, केवल वर्तमान में जीता है । न अतीत का प्रश्न, न भविष्य का प्रश्न । जो सामने है, वही सब कुछ है ।

प्रसंग जंबूकुमार का

जंबूकुमार दीक्षा के लिए प्रस्तुत था और उसकी नवविवाहित पत्नियां अदीक्षा के लिए । जंबूकुमार की एक पत्नी ने कहा—पतिदेव ! आप दीक्षित होना चाहते हैं सुख पाने के लिए । वर्तमान में जो सुख मिला है उसे छोड़ कर अप्राप्त की आशा करना समझदारी है ? उसने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत किया—

एक किसान अपनी ससुराल में गया । ससुराल में ईख के रस के साथ चावल खाए । उसे बड़ा अच्छा लगा । ईख का रस पीया, बड़ा अच्छा लगा, ईख चूसें, अच्छा लगा । उसने पूछा—ये क्या हैं ? कहां होते हैं ? ससुराल वालों ने उसे ईख के खेत दिखाए, बीज बोने से लेकर काटने की तक की सारी विधि समझाई । उसने सारी बातें समझ लीं । लौटते समय वह साथ में ईख के बीज ले आया । महीना था भादवे का । उसने घरवालों से कहा— इस सारे बाजरे को उखाड़ दो, इस खेत में ईख बोना है । घरवालों के मना करने पर भी उसने बलपूर्वक खड़ी बाजरी उखड़वा दी और ईख बो दिया । ईख को पूरा पानी चाहिए । पर वहां कहां था पानी ! थोड़े दिन ईख के डंठल खड़े रहे फिर सूखने लगे और सूख गए । वह बहुत पछताया । उसने कहा— मैंने कितनी मूर्खता की, खड़ी फसल को उखाड़ा भविष्य की आशा के लिए । ईख भी नहीं मिली और बाजरा भी चला गया । पत्नी ने कथा का उपसंहार करते हुए कहा— पतिदेव ! आपको भी वैसा ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा, जैसा उस किसान को करना पड़ा था ।

व्यापक है परलोक का प्रश्न

इन्द्रिय चेतना में जीने वाले व्यक्ति का चिन्तन इससे भिन्न नहीं हो सकता। वह इन्द्रिय की सीमा में ही सारी बात सोचता है। उससे बाहर की कोई बात वह सोच ही नहीं सकता—

**हत्यागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥**

काम-भोग प्रत्यक्ष हैं, मेरे सामने हैं, हाथ में आए हुए हैं। जो आने वाले हैं, वे कालिक हैं। न जाने कब आएंगे? कौन जानता है—परलोक है या नहीं?

यह चिन्तन न जाने कितने व्यक्तियों के मस्तिष्क में चक्कर लगाता होगा। कभी-कभी साधु-संन्यासी के मन में भी यह प्रश्न उठ जाता होगा—इतनी तपस्या कर रहे हैं, साधना कर रहे हैं, ग्राम-अनुग्राम विहार कर रहे हैं, घर-बार छोड़कर अकिंचन होकर चल रहे हैं, सर्दी-गर्मी सहते हैं, और भी न जाने क्या-क्या सहते हैं। आगे कुछ है या नहीं? क्या होगा? जब-जब साधक की चेतना इन्द्रियों के निकट जाती है। तब-तब यह प्रश्न उभरता है। ऐसी स्थिति में दूसरा प्रश्न उभरता ही नहीं। यह प्रश्न इतना व्यापक बना हुआ है कि हर व्यक्ति के मन में उभर आता है।

धरती भी नहीं झेल पाएगी

आचार्य डालगणी जोधपुर विराज रहे थे। मुसदी बच्छराजजी सिंघी डालगणी के पास आए। वे विचारों से पक्के नास्तिक थे। डालगणी के प्रति उनकी श्रद्धा थी। उन्होंने कहा—महाराज! आप लोच करवाते हैं, पैदल चलते हैं, सर्दी सहते हैं, गर्मी सहते हैं, भूख-प्यास सहन करते हैं। इस शरीर को भारी कष्ट देते हैं, होना-जाना क्या है? आगे तो कुछ है नहीं। क्यों सता रहे हैं आप अपने शरीर को? डालगणी ने कहा—मान लो! तुम्हारा कहना ठीक है, परलोक नहीं है इसलिए हमने जो तपस्या की, कष्ट सहा, आराम नहीं भोगा, वह व्यर्थ चला जाएगा। इसके सिवाय तो कुछ नहीं होगा। पर बताओ—अगर हमारा मत सही है, परलोक है तो तुम्हारा क्या होगा? सिंघीजी बोले—अगर आपका मत सही है तो हमारे सिर पर इतने जर्बे (जूते) पड़ेंगे कि धरती भी नहीं झेल पाएगी।

प्रमाण दोनों के पास नहीं है

संस्कृत का प्रसिद्ध श्लोक है—

**संदिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः ।
यदि नास्ति ततः किं स्यात्, यद्यस्ति नास्तिको हतः ॥**

परलोक संदिग्ध है। उसके संदिग्ध होने पर भी व्यक्ति को अमुक कर्म छोड़ देने चाहिए। परलोक नहीं है इसलिए मन में जो आए करें, इतना उच्छृंखल व्यक्ति को नहीं होना चाहिए। प्रश्न हुआ—किसलिए? कहा गया— यदि परलोक नहीं है तो कष्ट सहना व्यर्थ हो जाएगा किन्तु यदि परलोक है तो नास्तिक मारा जाएगा।

एक व्यक्ति कहता है—परलोक नहीं है। प्रश्न हुआ—परलोक नहीं है इसका प्रमाण क्या है? दूसरा कहता है—परलोक है। प्रश्न हुआ—अगर है तो बताओ किसने देखा है? दोनों ओर प्रश्न हैं। नास्तिक आस्तिक से पूछे—परलोक है, इसका प्रमाण दो? आस्तिक पूछ सकता है—परलोक नहीं है, इसका प्रमाण दो। प्रमाण दोनों के पास नहीं है।

सबकी गति : मेरी गति

केवल इन्द्रियों के आसपास घूमने वाला चिंतन बड़ा खतरनाक होता है। एक युवक के मन में इस प्रकार का चिंतन उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उस पर इन्द्रियों का भारी दबाव रहता है। उसे उनके सिवाय दुनिया में कोई सार वस्तु लगती ही नहीं। उसी के आधार पर उसका चिन्तन बढ़ता चला जाता है। लोक और परलोक के विषय में वह संदेहशील बन जाता है। काम-भोग की आसक्ति को उचित ठहराते हुए वह कहता है—

**जणेण सद्धिं होक्खामि इइ बाले पगब्भई ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥**

मैं दुनिया के साथ चलूंगा। दुनिया के अरबों-अरबों आदमी जो काम कर रहे हैं, उसे मैं अकेला नहीं करूंगा तो क्या फर्क पड़ेगा? जैसा सबका होगा, मेरा भी हो जाएगा। जो सबको मिलेगा, मुझे भी मिल जाएगा। इस मामले में वह अपने आपको प्रवाहपाती या सबके साथ चलने वाला मान लेता है। वह कहता है—सबकी गति मेरी गति। मैं जनता के साथ चलूंगा, बहुमत के साथ चलूंगा। यह चिंतन इन्द्रिय चेतना में सांस लेने वाले व्यक्ति का चिंतन होता है।

इन्द्रियातीत चेतना

दर्शन की दूसरी धारा है इन्द्रियातीत चेतना की धारा। इन्द्रियातीत चेतना से सम्पन्न व्यक्ति का सारा दर्शन बदल जाएगा। वह कभी नहीं कहेगा—जो सबका होगा, वह मुझे भी हो जाएगा। वह अकेला सोचेगा। बहुत बड़े लेखकों और चिन्तकों ने स्वर दिया 'एकला चलो रे।' अकेला होने का मतलब है—बहुत लोग क्या कर रहे हैं, समूह क्या कर रहा है, इस तर्क के जाल से निकल जाना। किसी से कहा जाए—यह काम अच्छा नहीं है, अप्रामाणिकता का है! उत्तर मिलेगा—क्या मैं अकेला कर रहा हूँ, सभी करते हैं। यह तर्क एक कवच का काम करता है। सारी बुराइयों के लिए यह तर्क त्राण बना हुआ है। इस तर्क की ओट में व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित कर लेता है, एक लोह कवच पहन लेता है। जो व्यक्ति इन्द्रियातीत चेतना में जीता है, वह कभी ऐसे तर्कों की पनाह नहीं लेता, बुरे तर्क की शरण में नहीं जाता। उसका चिंतन बिलकुल दूसरे प्रकार का हो जाता है।

धर्म का मूल बिन्दु है—इन्द्रियातीत चेतना का विकास। इन्द्रियों की बात उससे नीचे रह जाती है। जब तक यह बात समझ में नहीं आती तब तक धर्म की बात समझ में आ ही नहीं सकती। धर्म कहता है—खाने का संयम करो। इन्द्रिय चेतना में जीने वाला क्यों कहेगा—खाने का संयम करो, प्राप्त को छोड़ो। एक गरीब आदमी, जिसे खाना मिलता ही नहीं है, वह क्या संयम करेगा? जिसे अच्छा भोजन मिलता है, ठंडा पेय मिलता है, मन को लुभाने वाली सारी वस्तुएं मिलती हैं, यदि उसे कहा जाए—विगय का वर्जन करो, रस परिहार करो, एकासन करो। उसका उत्तर होगा—क्यों उपवास किया जाये? किसलिए करें तपस्या? इच्छित पदार्थ मिल रहा है, उसे किसलिए छोड़ा जाए? यह तर्क इन्द्रिय चेतना में जीने वाले व्यक्ति का तर्क है। अतीन्द्रिय चेतना में जीने वाला संयम की बात सोचेगा, उन पदार्थों और विषयों को कम करने की बात सोचेगा।

अर्थ अतीन्द्रिय चेतना का

आज अतीन्द्रिय चेतना को अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान आदि के साथ जोड़ा जा रहा है। अतीन्द्रिय चेतना का मतलब यह नहीं है कि अवधिज्ञान पैदा हो जाए, केवलज्ञान पैदा हो जाए। अतीन्द्रिय चेतना का अर्थ है—इन्द्रिय आसक्ति से ऊपर उठकर चलना, सोचना और व्यवहार करना। इन्द्रिय की सीमा में जो आचरण और व्यवहार होता है उससे भिन्न प्रकार का चिंतन, भिन्न प्रकार का आचरण और भिन्न

प्रकार का व्यवहार करना। इस परिधि में सोचा जाए तो धर्म की बात समझ में आएगी। धर्म क्यों करना चाहिए? धर्म को कहां से पकड़ा जाए? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। धर्म का आदि बिन्दु है—राग और द्वेष से परे होना। इन्द्रियातीत चेतना में जीने वाला सबसे पहले राग पर चोट करेगा, द्वेष पर चोट करेगा। राग और द्वेष पर चोट करने का अर्थ है—समस्या की मूल जड़ पर प्रहार करना।

मूल्य चोट का नहीं है

एक कहानी बड़ी मार्मिक है। मोटर खराब हो गई। जंगल का रास्ता था। स्वयं मालिक ड्राइव कर रहा था। अब जंगल में ठीक कैसे हो? वह गाड़ी से उतरकर इधर-उधर थोड़ी दूर घूमा। एक मिस्त्री बैठा काम कर रहा था। उसने कहा—‘भाई! मेरी मोटर ठीक कर दो?’

मिस्त्री ने गाड़ी देखकर कहा—‘सौ रुपये लूंगा।’

जंगल का मामला था। मालिक ने सौ रुपये दे दिए। मिस्त्री ने हथौड़ा लिया, एक स्थान पर एक चोट मारी और कार स्टार्ट हो गई, चलने लगी।

मालिक ने मिस्त्री से कहा—‘तुमने मेरे साथ न्याय तो नहीं किया। एक चोट दी और सौ रुपये ऐंठ लिए। यह तो उचित नहीं हुआ।’

‘बाबूजी? आप समझे नहीं। मैंने इस चोट का मात्र एक रुपया ही लिया है।’

‘बाकी निन्यानवे रुपये किस बात के?’

‘बाबूजी! चोट कहां करनी चाहिए, इस बात के निन्यानवे रुपये हैं।’

पहला प्रश्न है—चोट कहां करनी चाहिए? इन्द्रियातीत चेतना में जीने वाले व्यक्ति के लिए मूर्च्छा एक पारमार्थिक तत्त्व है। उसे सबसे पहले मूर्च्छा पर चोट करनी चाहिए। व्यक्ति को इन्द्रियों से काम लेना है, आंख से देखना है, कान से सुनना है, जीभ से चखना है पर उनके साथ जो मूर्च्छा जुड़ी हुई है उससे मुक्त होना है। जब मूर्च्छा पर प्रहार होगा, व्यक्ति इन्द्रियातीत चेतना में जीने में विश्वास करेगा और वही धर्म का आदि-बिन्दु होगा।

सिक्का नास्तिक का ही चल रहा है

चिन्तन की इन दोनों धाराओं के बीच में एक भेद-रेखा है। उसे समझना आवश्यक है। एक वह खेमा है, जो इन्द्रिय चेतना में विश्वास करता है और दूसरा वह खेमा है, जो अतीन्द्रिय चेतना में विश्वास करता है। अतीन्द्रिय चेतना में

विश्वास होना ही धर्म की श्रद्धा है। जब तक यह इन्द्रिय चेतना या अतीन्द्रिय चेतना का भेद समझ में नहीं आएगा तब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होगा, श्रद्धा प्राप्त नहीं होगी। कभी-कभी प्रश्न उभरता है—आस्तिक दर्शन नास्तिक दर्शन का खण्डन करते हैं, चार्वाक दर्शन को अच्छा नहीं मानते। उसका मजाक भी उड़ाते हैं, चार्वाक दर्शन की मान्यता को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं—

*पिब खाद च चारुलोचने, यदतीतं वरगात्र तन्न ते ।
न हि श्रीरुगतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥*

खूब खाओ, पीओ, मौज करो। बार-बार यह जीवन थोड़े ही मिलेगा। धार्मिक भी कहते हैं—बार-बार मनुष्य जीवन थोड़े ही मिलेगा! नास्तिक भी कहेगा—जितनी मौज करनी है, करलें। यह मनुष्य का जीवन बार-बार थोड़े ही मिलेगा। दोनों तर्क एक समान हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से कोई आस्तिक हो सकता है किन्तु व्यवहार और आचरण में कौन नास्तिक नहीं है? इस बात की गम्भीरता में जाएं तो लगेगा—मनुष्य का आचरण और व्यवहार नास्तिक जैसा है। एक आस्तिक व्यक्ति धर्म, आत्मा, परमात्मा और कर्म फल—इन सारी बातों को मानने वाला है किन्तु जहां इन्द्रिय सुखों का प्रश्न है, कौन आस्तिक नास्तिक से पीछे है? आगे भी हो सकता है। वासनाजन्य सुख में कोई आस्तिक नास्तिक से पीछे नहीं है। कहा जा सकता है—विचारधारा में कोई आस्तिक हो सकता है किन्तु सिक्का नास्तिक का ही चल रहा है।

एकला चलो

उत्तराध्ययन सूत्र जीवन दर्शन का सूत्र है। उसमें जीवन का बहुत सुन्दर दर्शन दिया गया है—तुम अपने दर्शन को, दृष्टि को साफ करो। सबकी गति, मेरी गति इस प्रवाह में मत जाओ, इन्द्रियों के साथ मत चलो, अकेला चलने का सूत्र खोजो। सबके साथ चलते हुए अकेले चलो। आचार्य भिक्षु ने मार्मिक शब्दों में कहा—गण में रहूँ निरदाव अकेलो—समूह के बीच रहता हुआ भी व्यक्ति अकेला रहे, 'एकला चलो' इस चिन्तनधारा को मानकर चले, 'सबकी गति: मेरी गति' इन्द्रिय की धारा में पनपने वाले इस चिन्तन से परे रहे। उसे अपना स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन करना है, भीड़ का साथी नहीं होना है, भीड़ से अलग रहकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व को बनाए रखना है।

जैन दर्शन अतीन्द्रिय चेतना में विश्वास करने वाले दर्शनों में अगुआ दर्शन रहा है। उसमें अकेला चलने का विधान है—यह भी तुम करो, वह भी तुम करो। किसी की प्रतीक्षा मत करो, किसी की ओर मत देखो, अपने पुरुषार्थ पर भरोसा कर चल पड़ो। यह अकेला चलने की बात, अतीन्द्रिय चेतना की बात व्यक्ति के अन्त-मनस में उतर जाए तो जीवन की धारा, चिन्तन की प्रणाली बदल जाए, शांति का मार्ग बहुत प्रशस्त बन जाए।



इन्द्रिय-संयम का प्रश्न

शिष्य के मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह आचार्य की सन्निधि में पहुंचा। विनम्र प्रणाम पूर्वक बोला—गुरुदेव ! मुनि स्वाध्याय कर रहे हैं और वे कह रहे हैं—इन्द्रियां शत्रु हैं, इन्द्रियां हमारी दुश्मन हैं। यह मुझे अटपटा लगा। इन्द्रियां हमारी शत्रु कैसे ? मैं बाह्य जगत् को इन्द्रियों के द्वारा जान रहा हूं। मेरा सारा सम्पर्क इन्द्रियों के माध्यम से हो रहा है। मैं इन्द्रियों से सारी दुनिया को देखता हूं, दूसरों के साथ सम्पर्क स्थापित करता हूं। अगर आंख और कान—ये दो इन्द्रियां न हों तो बाह्य जगत् मेरे लिए विलुप्त जैसा हो जाए। पूरा सामाजिक जीवन इन दो इन्द्रियों के साथ जुड़ा हुआ है।

समाज का माध्यम : भाषा

समाज का सबसे बड़ा माध्यम है भाषा। भाषा के द्वारा समाज बनता है। जिन प्राणियों में भाषा नहीं है, वे अपना समाज नहीं बना पाए। संस्कृत साहित्य में दो शब्द मिलते हैं— समज और समाज। पशुओं का समज होता है, समाज नहीं होता। मनुष्य का समाज होता है। कारण स्पष्ट है—मनुष्य में भाषा है। दूसरे प्राणियों में भाषा का पर्याप्त विकास नहीं है, उनकी भाषा में बहुत थोड़े शब्द हैं। भाषाशास्त्रियों ने पशुओं की भाषा का अध्ययन किया। उनका निष्कर्ष था—किसी पशु की भाषा में पांच-सात शब्द हैं और किसी पशु की भाषा में दो-चार शब्द हैं। वे भी अव्यक्त हैं, व्यक्त नहीं हैं। भाषा समाज के निर्माण का मूलभूत तत्त्व है। अगर कान नहीं है तो भाषा का कोई अर्थ नहीं है। दूसरों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का एक माध्यम विच्छिन्न हो जाता है। आंख नहीं होती तो भी सम्पर्क विच्छिन्न हो जाता।

शिष्य ने कहा—मैं इन्द्रियों से ही सारे बाह्य जगत् को जानता हूं। इस स्थिति में इन्द्रियां शत्रु हैं यह बात कैसे श्रद्धेय हो सकती है ?

*इन्द्रियेणैव जानामि, बाह्यं जगदिदं स्फुटम् ।
तानि संति च वैरीणि, श्रद्धेयं स्यादिदं कथम् ॥*

शिष्य का प्रश्न सम्यक् था । धर्म के लोगों ने इन्द्रियों को शत्रु माना है इसलिए इस प्रश्न को अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता ।

आचार्य ने कहा—वत्स ! तुम ध्यान से सुनो । इन्द्रियां मनुष्य की शत्रु नहीं हैं, ज्ञान हैं । इनके द्वारा उसका ज्ञान स्पष्ट होता है । मन का ज्ञान बाद में होता है । सबसे पहला सर्व सुलभ ज्ञान है—इन्द्रिय-ज्ञान । दुनिया भर के जितने भी प्राणी हैं, सब इन्द्रिय वाले हैं । अविकसित जीवों में मन नहीं है । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—इन प्राणियों में मन नहीं है किन्तु इन्द्रियां सबको प्राप्त हैं । काल समवर्ती है । वह सब पर समान रूप से वर्तता है । किसी का पक्षपात नहीं करता । इन्द्रियां भी समवर्ती हैं । सभी प्राणियों के पास हैं । संसार का एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसे इन्द्रिय सुलभ न हो । इन्द्रिय का यह स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के लिए परम उपयोगी है ।

शत्रुता का कारण

शिष्य बोला—गुरुदेव ! एक ओर आप इन्द्रियों को परम उपयोगी बता रहे हैं, दूसरी ओर उन्हें शत्रु कहा जा रहा है ।

आचार्य ने कहा—महामति शिष्य ! इन्द्रियां जब राग-द्वेष के प्रभाव से आविष्ट होती हैं, तभी शत्रु कहलाती हैं । राग-द्वेष मुक्त इन्द्रियां शत्रु नहीं हैं ।

आविष्टानि यदा तानि, रागद्वेषप्रभावतः ।

तदा तानि विपक्षाणि, नेतराणि महामते ! ॥

जब गंगा के निर्मल पानी में फैक्ट्रियों का दूषित कचरा मिलता है वह पानी भी दूषित हो जाता है । जब इन्द्रिय-ज्ञान की निर्मल धारा में राग और द्वेष का कचरा मिल जाता है, उस अवस्था में वे शत्रु बन जाती हैं । यह बात अध्यात्म की भूमिका पर कही जा सकती है । इन्द्रियां एक साधक के लिए अहितकर भी हैं और शत्रुता का काम भी करती हैं । जब इनमें मूर्च्छा का मिश्रण हो जाता है, राग और द्वेष का मिश्रण हो जाता है, तब अध्यात्म विकास में बाधा उत्पन्न हो जाती है । जब मोह की गन्दी नाली इन्द्रियों के साथ जुड़ जाती है, इन्द्रियां उससे आविष्ट हो जाती हैं तब वे चित्त की निर्मल धारा को कलुषित कर देती हैं ।

दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में यह एक बहुत बड़ा विषय रहा है । इस विषय पर गहन अध्ययन करने वालों के लिए आचार्य भिक्षु का एक ग्रन्थ 'इन्द्रियवादी की चौपाई' बहुत उपयोगी है । इन्द्रियों की वास्तविकता क्या है ? इन्हें शत्रु क्यों माना

जाता है? इन्द्रियां कब मित्र बनती हैं और कब शत्रु बनती हैं? ये प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन्द्रियां न नितान्त मित्र हैं और न नितान्त शत्रु हैं। एक अवस्था में वे मित्र हैं और एक अवस्था में वे शत्रु का काम भी करती हैं। इन दोनों स्थितियों का सम्यक् बोध आवश्यक है।

मानवीय जीवन के तीन पक्ष

अमेरिका के दार्शनिक हेनरी जेम्स बहुत बड़े चिन्तक हुए हैं। उन्होंने मानवीय जीवन को तीन पक्षों में बांटा—एक बाह्य अथवा भौतिक, दूसरा आन्तरिक अथवा मानसिक और तीसरा आध्यात्मिक। इन तीनों भागों में मानव का जीवन विभक्त होता है। बाह्य जीवन व्यक्ति का शरीर है। आन्तरिक जीवन उसका मन है, जिसके द्वारा स्मृति, कल्पना और चिन्तन चलता है। आध्यात्मिक जीवन व्यक्ति की आत्मा है। आत्मा, मन और शरीर—इन तीनों का योग है हमारा व्यक्तित्व। यह जेम्स की परिभाषा है।

जीवन के चार पक्ष

जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक। जेम्स ने बुद्धि और मन को एक साथ संकलित किया है किन्तु हमारी दृष्टि में बुद्धि का पक्ष मन से भिन्न है। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। चेतना स्थायी तत्त्व है, बुद्धि स्थायी तत्त्व है। बुद्धि और मन—दोनों को एक नहीं किया जा सकता। मन अलग है और बुद्धि अलग है। फ्रायड ने मन पर विचार किया। उसके सामने मूल प्रश्न था माइंड। उन्हीं के शिष्य कार्ल गुस्ताव युंग ने इस विषय को और आगे बढ़ाया। युंग ने कहा—केवल माइंड से सारे शरीर की व्याख्या नहीं की जा सकती इसीलिए उन्होंने चित्त को और जोड़ दिया। मन और बुद्धि के द्वारा जीवन की पूरी व्याख्या की जा सकती है, इन दोनों के द्वारा जीवन को पूरी तरह से समझा जा सकता है।

भावों का केन्द्र

जीवन का चौथा पक्ष है—आध्यात्मिक या भावात्मक। भाव बुद्धि से भी परे हैं। भावों का बुद्धि और मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका स्वतंत्र अस्तित्व है। वे उत्पन्न होते हैं सूक्ष्म शरीर के प्रकम्पनों से। सूक्ष्म शरीर के प्रकम्पन, भावों के प्रकम्पन भीतर से इस स्थूल शरीर में आते हैं और हृदय में उत्पन्न होते हैं। हृदय को भावों का केन्द्र माना गया है। इस संदर्भ में एक प्रश्न उभरता है—क्या यह

पंपिंग करने वाला हृदय भावों का केन्द्र है ? जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में हमने इस प्रश्न पर गंभीर मंथन किया। हमारा निष्कर्ष रहा—मानव शरीर में दो हृदय होने चाहिए—एक वह हृदय, जो धड़क रहा है, पंपिंग कर रहा है और एक वह हृदय, जो मस्तिष्क में है। जो भाव भीतर से आते हैं, सूक्ष्म शरीर से आते हैं, वे मस्तिष्क के एक भाग में अभिव्यक्त होते हैं। भावों का केन्द्र वह हृदय नहीं है, जो फेफड़े के पास है। वह रक्त-शोधन का काम करने वाला है। भावों का केन्द्र वह हृदय है जो मस्तिष्क में है। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में उसका स्थान निर्धारित किया गया है हाइपोथेलेमस। यह भावधारा का हृदय होना चाहिए।

आयुर्वेद का दृष्टिकोण

कुछ वर्ष पूर्व गुरुदेव अहमदाबाद में थे। वहां के प्रसिद्ध वैद्य थे गोविन्द प्रसाद जी। गुरुदेव के सान्निध्य में उनके घर पर एक गोष्ठी का आयोजन था। उस गोष्ठी में बोलते हुए प्रसंगवश मैंने कहा—मनुष्य के शरीर में हृदय दो होने चाहिए। यह पंपिंग करने वाला हृदय भाव का केन्द्र नहीं होना चाहिए। भाव का केन्द्र होना चाहिए मस्तिष्क में। इस संदर्भ में मैंने हाइपोथेलेमस की विशेष रूप से चर्चा की। यह सुनकर वैद्यजी तत्काल उठे और भीतर जाकर अपना एक छपा हुआ लेख लेकर आए। उस लेख के कुछ अंशों को उद्धृत करते हुए वैद्यजी ने कहा—आप जो कह रहे हैं, वह सही है। प्राचीन आयुर्वेद में दो हृदय माने गए हैं। मैंने इस लेख में प्रमाणित किया है कि एक हृदय तो पंपिंग करने वाला है और दूसरा मस्तिष्क में होता है। भेलसंहिता आदि अनेक ग्रन्थों के आधार पर इसे प्रमाणित किया गया है। आयुर्वेद में दो हृदय की मान्यता बहुत प्राचीन रही है। जहां भाव पैदा होते हैं उस हृदय का न बुद्धि के साथ संबंध है, न मन के साथ संबंध है। इन्द्रियों का सम्बन्ध शरीर के साथ जुड़ा हुआ है। मस्तिष्क में उनके सारे केन्द्र हैं।

इन्द्रियां उपादेय भी हैं

व्यक्ति का सारा संपर्क पहले इन्द्रियों के माध्यम से होता है। हर धर्म में इन्द्रिय-संयम की बात कही गई है। इन्द्रिय-संयम करो, उन्हें उच्छृंखल मत बनाओ। यह बात ज्ञान की दृष्टि से नहीं कही गई है। इन्द्रियों के ज्ञान को बढ़ाना बहुत अच्छा है। जैन दर्शन में एक शब्द का विशेष प्रयोग किया गया—इन्द्रिय-पाटव। दूर-दर्शन, दूर-श्रवण—ये योग्य विभूतियां रही हैं। दूर की चीज को देख लेना, दूर की बात को सुन लेना, इन्द्रिय की कुशलता को बढ़ा लेना भी बहुत आवश्यक है। यह एक उलझन भरी बात है। एक ओर इन्द्रियों से काम लेना और जीवन की यात्रा के लिए उनका अधिकतम

पटुता पूर्वक प्रयोग करना, इस स्वर का समर्थन किया गया तो दूसरी ओर इन्द्रियों को दुश्मन और चोर भी कहा गया, अवांछनीय और हेय भी बतलाया गया। इन दोनों के बीच में भेद-रेखा खींचना बहुत कठिन है। अध्यात्म के आचार्यों ने इनके बीच एक भेद-रेखा खींची है। उनका कथन है—जहां-जहां इन्द्रियों के साथ मूर्च्छा जुड़ जाती है, वहां इंद्रियों को चोर, शत्रु और हेय कहा जा सकता है और जहां यह मूर्च्छा न जुड़े, कोरी ज्ञान की धारा रहे वहां इन्द्रियां बहुत उपादेय हैं। ज्ञान उपादेय है किंतु यदि ज्ञान के साथ मूर्च्छा का योग बनता है तो ज्ञान भी हेय बन जाता है। ये दोनों दृष्टिकोण बहुत साफ होने चाहिए। संयम करना है मूर्च्छा का। इन्द्रिय में जो मूर्च्छा पैदा हो जाए, उसका संयम करना आवश्यक है।

इन्द्रिय की मूर्च्छा आदमी को बीमार बना देती है। अगर व्यक्ति को शरीर से स्वस्थ रहना है तो उसे इंद्रिय-संयम करना ही होगा। कोई आदमी श्रावक बने या न बने, साधु बने या न बने पर जो स्वस्थ रहना चाहता है, उसे एक सीमा तक इन्द्रियों का संयम करना ही होगा। उसके बिना स्वस्थ नहीं रहा जा सकता। जहां इन्द्रिय का संयम नहीं होता वहां समस्याएं पैदा होती चली जाती हैं। इंद्रिय-असंयम का क्या परिणाम होता है, इसे जैन आगमों में एक कथा के द्वारा बहुत सुन्दर तरीके से समझाया गया है।

असंयम का परिणाम

एक राजा बीमार हो गया। बहुत इलाज कराए गए किन्तु राजा ठीक नहीं हुआ। एक पुराना अनुभवी वैद्य आया। उसने राजा को देखा और रोग के मूल को पकड़ लिया। वैद्य ने कहा—महाराज ! मैं आपकी चिकित्सा कर सकता हूं पर मेरी एक शर्त माननी होगी। मैं कहूंगा, वह काम आपको करना पड़ेगा।

राजा ने कहा—आप जैसा कहेंगे मैं वैसा करूंगा। वैद्यजी की दवा से राजा स्वस्थ हो गया। वैद्य का काम पूरा हो गया। उसने कहा—महाराज ! अब मैं जा रहा हूं। आप स्वस्थ हो गए हैं। आनन्द से रहें, पर पथ्य का पालन करना पड़ेगा।

‘कहिए, आपका पथ्य कौन-सा है ?’

‘आपको जीवन भर आम नहीं खाना है।’

राजा आम का बड़ा शौकीन था। बड़ी कठिनाई हो गई। राजा बोला—
‘वैद्यजी ! आपने बड़ा कड़ा पथ्य बतलाया।’

‘इसका पालन आपको करना होगा।’

‘प्रतिदिन कितने आम खा सकता हूं ?’

‘आम बिलकुल भी नहीं खाना है।’

‘आम का मौसम कुछ महीने के लिए आता है। क्या एक-दो दिन भी नहीं खाना है।’

‘महाराज ! जीवन भर आम नहीं खाना है। जिस दिन आपने आम खा लिया, उस दिन आपको कोई नहीं बचा सकेगा।’

राजा विवश था। उसने वैद्य का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

मौसम बदला। वैशाख का महीना आया। आम्रवृक्ष आमों से लद गए। राजा ने अपने मंत्री से कहा—चलो ! बहुत दिन हो गए, आज बगीचे में चलें।

‘महाराज ! वन के बगीचे में क्या करोगे ? राजप्रसाद में बहुत बड़ा बगीचा है। आप यहीं घूम लें।’

‘नहीं, आज वही चलना है।’

मंत्री बेचारा क्या करे ! आखिर राजा राजा है। राजा और मंत्री—दोनों बगीचे में गए। राजा को मंत्री ने उधर ले जाना चाहा जिधर आम के पेड़ नहीं थे पर राजा उधर चल पड़ा, जिधर आम के पेड़ थे। राजा आम के पेड़ों को देखकर मुग्ध हो उठा। बोला—मंत्रीजी ! आम कितने अच्छे हैं !

‘महाराज ! आपको जिस गांव ही नहीं जाना है, उसका रास्ता पूछने का मतलब ही क्या है ? आपको आम देखना ही नहीं है।’

‘तुम भी बड़े भोले हो। वैद्य लोग ऐसे ही कह दिया करते हैं। उनकी सारी बात मान ले तो आदमी जी ही नहीं सके। उनकी बात केवल सुनने की होती है। मानना उतना ही चाहिए जितना उचित लगे।’

मंत्री ने सोचा—आज क्या हो गया है महाराज को ! ये क्यों मौत के मुंह में जा रहे हैं ?

राजा ने कहा—देखो ! सघन पेड़ हैं, कितनी अच्छी छाया है। वैद्य ने आम खाने की मनाही की है। पेड़ के नीचे बैठने का निषेध तो नहीं किया है ?

राजा पेड़ की सघन छाया में बैठ गया। आंखें ऊपर आम पर टिकी हुई थीं। ऐसा कोई योग मिला, पवन का एक झोंका आया और एक पका हुआ आम राजा की गोद में आ गिरा। राजा ने उसे उठाया। वह उसे कभी इधर से देखता है और कभी उधर से देखता है।

मन्त्री ने कहा—महाराज ! आप क्या कर रहे हैं ? क्यों मौत को बुला रहे हैं ?

‘मंत्रीजी ! यदि इन वैद्यों के कहने के अनुसार चलते रहें तो जीना दूभर हो

जाए, जीने का सारा रस निचुड़ जाए। यदि आदमी अपना मनचाहा न करे तो जीए किसलिए?’ यह कहते हुए राजा ने आम खा लिया। आम खाते ही बीमारी का दोष उभर आया और सांझ होते-होते राजा इस संसार से विदा हो गया।

इन्द्रिय की उच्छृंखलता मानसिक, शारीरिक और भावनात्मक स्वास्थ्य को कितना प्रभावित करती है, यह इस उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएं घटती हैं। जब व्यक्ति अत्यधिक असंयम में प्रवृत्त होता है तब वह अपनी इन्द्रियों की उच्छृंखलता के कारण अनेक कठिनाइयों को झेलता है और कभी-कभी वह अपने आपको मौत के मुंह में भी धकेल देता है। उत्तराध्ययन सूत्र में इस कथा का संकेत देते हुए कहा गया—

अपथ्य अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए।

जैसे अपथ्य आम को खाकर राजा ने अपना राज्य गंवाया वैसे ही संयमी मुनि संयम के लिए जो अपथ्य है, उसका सेवन कर आध्यात्मिक राज्य को खो देता है।

इन्द्रिय-संयम क्यों ?

गृहस्थ जीवन में इन्द्रिय के संयम की एक सीमा है। उस सीमा तक सबको संयम करना चाहिए। जीभ का संयम, चक्षु का संयम, कान का संयम और स्पर्श का संयम एक गृहस्थ के लिए भी आवश्यक है। एक सीमा तक सबका संयम जरूरी है। व्यक्ति संयम नहीं करता है तो उसका शरीर खोखला बना जाता है, भीतर की सारी शक्तियां चुक जाती हैं। मनुष्य कोरा हाड़-मांस का पुलिंदा जैसा रह जाता है। एक सामाजिक प्राणी के लिए एक सीमा तक इन्द्रिय-संयम आवश्यक है, जिससे उसके स्वास्थ्य को नुकसान न पहुंचे, आर्थिक और व्यावहारिक जीवन में बाधा न आए। जहां इन्द्रियों का असंयम सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में बाधा डालना शुरू कर देता है वहां समस्या पैदा हो जाती है। न जाने कितने राजाओं ने अपनी वृत्तियों की उच्छृंखलता के कारण अपने राज्य को गंवा दिया और पराधीन हो गए। एक ओर दुश्मन का हमला हो रहा है, दूसरी ओर शासक महलों में रंगरेलियां मना रहे हैं। इन्द्रियों के असंयम में रत ऐसे राजाओं के कारण हिन्दुस्तान को अनेक बार परतंत्रता का मुंह देखना पड़ा है। महामात्य कौटिल्य ने कहा— शासक और सामाजिक प्राणी—दोनों के लिए एक सीमा तक इन्द्रिय-संयम जरूरी है। स्वास्थ्य के लिए उस सीमा से परे संयम की जरूरत है। केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही नहीं, किन्तु अतीन्द्रिय चेतना का विकास करने के लिए, भाव-पक्ष का विकास करने के लिए, आध्यात्मिक जीवन का विकास करने के लिए

अतिरिक्त इन्द्रिय-संयम की जरूरत है।

इन्द्रिय-संयम का परिणाम

बहुत लोग सोचते हैं—स्वास्थ्य अच्छा है। पेट में कोई खराबी नहीं है, पाचनतंत्र ठीक है। इस अवस्था में हम सब कुछ खाते हैं तो क्या फर्क पड़ेगा? यह केवल शारीरिक स्तर पर होने वाला चिन्तन है। साधक को केवल शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से नहीं सोचना चाहिए। उसका चिन्तन होना चाहिए—भोजन का मन पर क्या असर होगा? बुद्धि पर क्या असर होगा? एक गृहस्थ के लिए इन्द्रिय-संयम की बात दस या बीस प्रतिशत होती है किन्तु एक साधक के लिए शत-प्रतिशत इन्द्रिय-संयम की बात आ जाती है। एक साधक को उतना संयम करना चाहिए, जिससे मूर्च्छा को बढ़ावा न मिले, उद्दीपन न मिले। आगम साहित्य में इस बात पर बहुत विचार किया गया है कि किस प्रकार इन्द्रिय-असंयम के कारण मूर्च्छा को उद्दीपन मिलता है, राग-द्वेष बढ़ता है और संयम की विराधना होती है।

इन्द्रिय-संयम का प्रश्न व्यक्ति के स्वास्थ्य के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक जीवन में इन्द्रिय-संयम को मूल्य नहीं मिलेगा तब तक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक स्वास्थ्य का प्रश्न सदा प्रस्तुत रहेगा। इन्द्रिय-संयम से न केवल शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं किन्तु बुद्धि और भाव भी पवित्र रहते हैं। जीवन-विज्ञान का प्रसिद्ध सूत्र है—*स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति*—स्वस्थ चित्त में प्रतिभा का स्फुरण होता है। मलिन चित्त में प्रज्ञा का स्फुरण नहीं होता। प्रज्ञा जागरण के लिए इन्द्रिय-संयम, शरीर की निर्मलता और योग की भाषा में प्राण और अपान की निर्मलता आवश्यक है। अपान शुद्ध होगा तो प्रज्ञा जागेगी, अपान दूषित रहेगा तो प्रज्ञा का स्फुरण ही नहीं होगा, विचार भी दूषित बने रहेंगे। यदि प्राण और अपान को निर्मल बनाया जाए, इन्द्रिय-संयम के द्वारा अपनी प्रज्ञा को निर्मल बनाया जाए, तो आध्यात्मिक विकास की संभावना उज्ज्वल बन सकती है, अपने संयम के द्वारा अपनी प्रज्ञा को जगाने का मार्ग प्रस्तुत हो सकता है।

विषय को नहीं, विकार को जीतें

जीने की कला क्या है? यह प्रश्न अनेक बार उभरता है। हमने उदयपुर में देवीलालजी सामर द्वारा संस्थापित 'लोक कलामण्डल' को देखा। एक कलाकार सिर पर दस-बारह घड़े रखकर नृत्य करता। वे घड़े मकान की छत को छूते हुए प्रतीत होते थे। वह कभी स्टेज पर नाचता और कभी नृत्य करता हुआ धरती पर उतर जाता। वे घड़े उसके सिर पर लंबी कतार जैसे बने रहते। एक भी घड़ा इधर से उधर नहीं होता। उस नृत्य को देख लोग मंत्रमग्न हो जाते। क्या हम इसे जीने की कला मानें?

स्थूलिभद्र के समय की घटना है। सरसों के ढेर पर व्यक्ति नाचता और सरसों का एक दाना भी इधर-उधर नहीं होता। आचार्य श्री तुलसी का वि. संवत् १९९३ में बीकानेर चतुर्मास था। महाराजा गंगासिंह जी की गोल्डन जुबली मनाई जा रही थी। उस समय एक कलाकार ने ऐसा ही नृत्य किया। पट्ट के बराबर सरसों का एक ढेर कर दिया। कलाकार पट्ट पर नाचते-नाचते सरसों के ढेर पर नाचने लगा। सरसों वैसी की वैसी बनीं रही। कितनी अद्भुत है यह कला! क्या यह है जीने की कला?

बड़ी कला

कोशा भारत की प्रसिद्ध नृत्यांगना थी। एक दिन कुशल धनुर्धर सुकेतु आया। वह कोशा को अपनी प्रेयसी बनाना चाहता था। सुकेतु ने कहा—देवी! आप मेरी कला देखें! कोशा ने कहा—कैसी है आपकी कला? सुकेतु ने धनुष हाथ में लिया और आम की शाखा को लक्ष्य कर बाण छोड़ा। उस बाण की सीध में जितने पत्ते और आम थे, वे सीधे धरती पर आ गिरे। सुकेतु ने कोशा की ओर देखते हुए कहा—देवी! कुशल कलाकार वह होता है, जो एक बाण चलाता है और नीचे से ऊपर तक पूरे लक्ष्य को भेद देता है।

कोशा ने कहा—यह कैसी कला है? मैं आपको दूसरी कला दिखाती हूँ। उसने दासी को रंगमंच सजाने का निर्देश दिया। कोशा रंगमंच पर पहुंची। सुकेतु भी वहीं था। सामने मंच पर सरसों का ढेर और उसके बीच में सीधे मुंह खड़ी थी

लोहे की सूइयां। कोशा सधे कदमों से नृत्य करते हुए उस सरसों के ढेर पर नाचने लगी। सरसों के ढेर में कोई कंपन नहीं। कितना सधा हुआ दृश्य। थोड़ा सा भी चूक जाए तो लोहे की सूई पैर को बींध डाले। धनुर्धर उसकी कला-साधना देखकर अवाक् रह गया। उसने उल्लास भरे स्वर में कहा—देवी ! धन्य है आपकी कला-साधना को ! मेरी कला इसके सामने कुछ नहीं है।

कोशा बोली—सुकेतु ! एक बाण से आम के गुच्छे को तोड़ लेना या सरसों पर नाच लेना कोई बड़ी कला नहीं है।

सुकेतु ने पूछा—आप किसे कला मानती हैं ?

कोशा ने कहा—कोशा की चित्रशाला में रहना, जो कामशास्त्र के चित्रों से भरी है, षड्रस युक्त भोजन करना, सामने कोशा जैसी नृत्यांगना का निरन्तर प्रणय निवेदन सुनना और इतना होने पर भी निर्लिप्त रहना, यह सबसे बड़ी कला है। आर्य स्थूलभद्र इस कामोद्दीपक चित्रशाला में रहे, षड्रस युक्त भोजन किया, फिर भी मेरे प्रणय निवेदन से उनका मन विचलित नहीं हुआ। यह है साधना, यह है कला।

कमलपत्र की निर्लेपता

उत्तराध्ययन सूत्र का एक महत्वपूर्ण पद्य है—रस से विरक्त मनुष्य शोकमुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परंपराओं से लिप्त नहीं होता

रसे विरक्तो मणुओ विसोगो, एण्ण दुक्खोहपरंपरेण।

न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

कमल कीचड़ में रहता है पर कीचड़ में लिप्त नहीं होता। यह लेप न होना, निर्लेप रहना जीवन की महान् कला है।

बहुत सारे लोग पढ़ते हैं। उनका ज्ञान काफी बढ़ जाता है, जानकारियां बढ़ जाती हैं। हिमालय की ही नहीं, मेरु पर्वत तक की जानकारी हो जाती है। नीम, खेजड़े के वृक्ष की ही नहीं, कल्पवृक्ष की भी जानकारी हो जाती है। हीरे-पत्त्रे की नहीं, चिन्तामणि रत्न की भी जानकारी हो जाती है। दृश्य और अदृश्य—अनेक तत्त्व जान लिए जाते हैं। जानकारी के साथ-साथ अहंकार भी उतना ही बढ़ जाता है। क्या यह संभव है—ज्ञान हो और अहंकार न हो ? ऐसे अनेक प्रश्न हैं—समूह हो और कोलाहल न हो ? पानी आए और साथ में मिट्टी न आए ? हवा आए और रेत न आए ? अच्छी बात सुनें और नींद न आए ? यदि ये सब असंभव हैं तो चर्चा

व्यर्थ है। यदि संभव है तो कैसे हैं? वस्तुतः कला यही है—हजारों लोग इकट्ठे हों और कोलाहल न हो। धर्म की बात सुनें और नींद न आए, हवा-पानी आए और रेत न आए। यह संभव है और इसका नाम है कला। मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। उसने इस कला को सीखा है, बहुत उपाय खोजे हैं। मनुष्य ने चलनी इसीलिए बनाई कि पानी छन पात्र में जाए और न जाने की चीज ऊपर रह जाए। लोग कुण्ड या हौज बनाते हैं। उसमें पानी जाने के लिए नाला रखते हैं। उस नाले से केवल पानी ही जाए, इसके लिए जाली लगा देते हैं। जाली से छनकर पानी चला जाता है और दूसरे तत्व बाहर ही रह जाते हैं। इसका नाम है विवेक।

हंस-विवेक

आदमी ने पृथक्करण करना सीखा है। यदि एक शब्द में कहा जाए तो सबसे बड़ी कला है विवेक, विवेचन की शक्ति, छानने की शक्ति। प्रसिद्ध शब्द हैं हंस-विवेक। हंस में विवेक होता है। उसकी चोंच में अम्लता होती है। दूध में चोंच डालते ही पानी अलग हो जाता है और दूध अलग। दूध को नींबू का सत् डालकर फाड़ा जाता है। छत्रा अलग हो जाता है और पानी अलग। यह हमारा विवेक ही है कि सारे विषयों के बीच, कलह और कोलाहल के बीच, झगड़े और समस्याओं के बीच रहते हुए भी हम उनसे दूर रह सकते हैं। हम एकांत में कहीं जा नहीं सकते। वस्तुतः एकांत कहीं है ही नहीं। कहा जाता था—हिमालय पर चले जाओ, एकांतवास हो जाएगा। आज हिमालय में भी एकांत कहाँ रहा? क्या वहाँ अणुधूली नहीं पहुंची है? आज एकांत जैसा कुछ रहा ही नहीं है। गंगा का पानी दूषित हो गया, हिमालय भी दूषित हो गया, आकाश और पृथ्वी—सब कुछ दूषित बनते जा रहे हैं। इस स्थिति में पलायन करने की बात नहीं सोचनी है। (हम जीवन की कला को सीखें और वह कला है विवेक। हम ऐसी शक्ति जगाएं, जो विवेचन कर सके, छान सके। कोई भी चीज सीधी न जाए, छन-छन कर जाए, विशुद्ध रूप में जाए।) जब सब कुछ भीतर चला जाता है तब समस्या पैदा हो जाती है और उसे दूर करने के लिए विश्लेषक तत्व का उपयोग करना होता है। जहां गावों में कच्चे कुओं का पानी आता है वहां पानी के साथ रेत घुलमिल जाती है। छानने के बावजूद पानी गंदला और धुंधला रह जाता है। उस धुंधलेपन को मिटाने के लिए पानी में फिटकरी का प्रयोग किया जाता है। फिटकरी के प्रयोग से रेत नीचे जम जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है, नितर कर साफ हो जाता है, पीने योग्य बन जाता है।

मनुष्य ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विवेक का प्रयोग करना सीखा है। जो कुछ आता है, उसे पूरा नहीं लेता। मनुष्य फल लाता है पर उसके छिलके को फेंक देता है। हालांकि आजकल यह विचार भी बन रहा है— छिलका भी नहीं डालना चाहिए! छिलका खाना कई दृष्टियों से उपयोगी भी है। मंत्री मुनि मगनलालजी कहा करते थे— थली प्रांत की बहिनें करेले के बीज को निकाल कर फेंक देती हैं। वे यह नहीं जानतीं कि करेले का बीज स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा होता है। यह सचाई है, पर इससे जुड़ी सचाई यह भी है— कुछ तत्व ऐसे हैं, जिन्हें डालना और फेंकना होता है। यह फेंकने और छोड़ने की बात विवेक चेतना से प्राप्त होती है। यदि यह विवेक नहीं होता तो आदमी जी नहीं पाता। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी विवेक करते हैं। गाय और भैंस जंगल में चरने के लिए जाती हैं। क्या वे सब कुछ खाती हैं? वे विवेक से खाती हैं— खाने की चीज खाती है, न खाने की चीज की ओर मुंह भी नहीं करतीं। पशु भी प्रत्येक वस्तु नहीं खाता। ऊंट का खाना अलग है, गाय और भैंस का खाना अलग है। बकरी के लिए कहा जाता है कि वह सब कुछ खा जाती है। कुछ हाथ न लगे तो कांटे की बाड़ भी खाने लग जाती है।

गुरुदेव का लाडलू चतुर्मास था। हम बाहर से घूमकर आ रहे थे। संध्या का समय था। हमने देखा—बकरियां बाड़ों पर चढ़कर सूखे कांटे चबा रही थी। यह देखकर सहसा मन में एक प्रश्न उभर आया। चरवाहे से पूछा—अरे भाई! अभी बरसात का मौसम है। खाने को हरी घास बहुत है। ये बकरियां बाड़ के कांटे क्यों चबा रही हैं? चरवाहे ने घड़ाघड़ाया उत्तर दे दिया—महाराज! आदमी मिठाई खाने के बाद भुजिया खाता है, पापड़ खाता है। ये जंगल में इतना मीठा घास चर कर आई हैं। अब मुंह साफ करना है, भुजिया या पापड़ खाना है तो ये कांटे ही खाएंगी।

दो मार्ग

प्रत्येक व्यक्ति में विवेक है। मनुष्य में विवेक का विकास हुआ है इसलिए वह विवेक का उपयोग करना जानता है। मनुष्य इन्द्रिय विषयों को क्यों छोड़े? क्यों कम करे? इसलिए कि उसके पीछे विवेक बोल रहा है। आदमी दुःख से बचना चाहता है, दुःख की परंपरा से बचना चाहता है। दो मार्ग उसके सामने हैं—संसार का मार्ग और मोक्ष का मार्ग। भोग भोगो, पांच इन्द्रियों के भोग का आसेवन करो—यह है संसार का पथ। भोग को त्यागो, इन्द्रिय-विषय का निग्रह करो—यह है मोक्ष का पथ।

दो छोर बन गए—एक भोग का और दूसरा त्याग का। इन दोनों के बीच खड़ा मनुष्य क्या करे ? भोग करे या त्याग ? ये दो किनारे हैं। दो किनारों के बीच पानी का प्रवाह चलता है। हम किनारों को पकड़ें या बीच में बह रहे पानी को ? यदि इन्द्रियों से काम न लें तो जीवन की यात्रा नहीं चलेगी। इस समस्या के संदर्भ में कहा गया—विवेक से काम लो, विवेक से निर्णय लो। यह विवेक प्रस्तुत हुआ—तुम इन्द्रियों से काम लेते हो क्योंकि तुम्हें सुख चाहिए। जब-जब व्यक्ति आंख से अच्छा रूप देखता है, कान से अच्छा शब्द सुनता है, जीभ से अच्छी चीज चखता है, नाक से अच्छी सुगंध लेता है तब-तब उसे सुख मिलता है। इस दृष्टि से विचार करें तो लौकिक मार्ग, संसार का मार्ग अच्छा लगता है। व्यक्ति सोचता है—छोड़ना दुःख है। धर्म कहता है—यह भी छोड़ दो, वह भी छोड़ दो। यह दुःख का मार्ग है। सुख का मार्ग है भोग। यह एक दृष्टिकोण है।

त्याग क्यों ?

एक प्रश्न आता है—धार्मिक लोगों की यह क्या समझदारी है ? जो आदमी सुख भोग रहा है, उसे छोड़ना क्या समझदारी है ? परोसी हुई थाली को टुकरा कर आगे की आस करना कौनसी समझदारी है ? पांचों इन्द्रियों को भोग भोगने में आदमी को सुख मिलता है। उस स्थिति में आलौकिक मार्ग/मोक्ष मार्ग कहता है—इनको छोड़ो, त्याग करो, क्या यह सुख छोड़ने की बात नहीं है ? क्या यह अस्वाभाविक बात नहीं है ? किमी ने गाली दी, गुस्सा आया, उस समय धर्म कहता है—तुम क्षमा करो। गुस्सा करना स्वाभाविक बात है, सारी दुनिया कर रही है। धर्म के लोग जो कह रहे हैं, वह अस्वाभाविक बात है, अलौकिक बात है। क्या सुखों को छोड़ने की बात सही है ? इस प्रश्न को भारतीय और पाश्चात्य चिन्तकों ने भी उभारा—इस त्याग की बात ने क्या जीवन को निराशावादी और पलायनवादी नहीं बना दिया है ? क्या इस वैराग्यवादी धारा ने मनुष्य को सारे सुखों से वंचित नहीं कर दिया है ? एक छोटे लड़के को साधु बना देते हैं। उसने क्या देखा, क्या भोगा ? बेचारे के सुख को छीन लिया। क्या धार्मिक लोगों का कर्तव्य यही है कि वे लोगों को सुख से वंचित करते चले जाएं ?

आपातभद्र : परिणामविरस

गर्मी का मौसम है। एक युवक से कहा जाए—भाई ! ठण्डा पेय पीओ, आईसक्रीम खाओ, वातानुकूलित मकान में रहो। कार में एयर कंडीशनर लगा लो,

बादाम का सरबत पीओ, जिससे दिमाग तर रहे, शरीर बिलकुल स्वस्थ रहे। यह बात युवक को प्रिय लगती है। यदि उसे कहा जाए—तुम उपवास करो, ज्यादा ठण्डी चीजें मत खाओ। वातानुकूलन में रहोगे तो तुम्हारी सहिष्णुता नष्ट होती चली जाएगी। यह बात उसे अच्छी नहीं लगेगी। एक उसे सुख देने वाली बात है और दूसरी उसे कठिनाई में डालने वाली बात है। पहली बात अच्छी लगती है, सीधी गले उतर जाती है, दूसरी बात गले में अटक जाती है।

साधु-संत लोगों को त्याग की प्रेरणा देते हैं। क्या वे सचमुच दुःख की ओर ले जा रहे हैं? इस बिन्दु पर हम सोचें, तो यह प्रश्न समाहित होगा। बहुत बार ऐसा होता है—लगता है कि अमुक बात दुःख की ओर ले जा रही है और निष्कर्ष यह आता है—वह सुख की ओर ले जा रही है। ऐसा लगता है—यह मार्ग सुख की ओर ले जा रहा है किन्तु निष्कर्ष यह आता है—वह दुःख की ओर ले जा रहा है। मां छोटे बच्चे को स्नान करती हैं। उसे स्नान कराना बड़ा मुश्किल होता है। बच्चा रोने-चिल्लाने लग जाता है। वह सोचता है—मां मुझे कितना कष्ट दे रही है। माता-पिता बच्चे को स्कूल भेजते हैं। बच्चे को प्रारंभ में कितना कठिन लगता है! वह सोचता है—स्कूल में क्या जाना है मानो नरक में ही जाना है।

पुत्र ने कहा—मां! मैं स्कूल नहीं जाऊंगा।

‘क्यों? क्या तुम्हारे पास पेंसिल नहीं है?’

‘पेंसिल तो है।’

‘कापी और पुस्तक नहीं है?’

‘वे भी हैं।’

‘तो क्या नहीं है?’

‘मां! सब कुछ है पर मैं स्कूल जाना नहीं चाहता, मुझे वहां जाना अच्छा नहीं लगता।’

बहुत सारे काम ऐसे हैं, जो आपातकाल में बड़े सुख देने वाले लगते हैं पर परिणामकाल में वैसे नहीं होते। बहुत सारे काम ऐसे हैं, जो आपातकाल में दुःखद लगते हैं पर परिणामकाल सुखद होते हैं। धार्मिक लोगों ने यह विवेक किया, इस सचाई को पकड़ा और काल को दो भागों में बांट दिया— आपातकाल और परिणाम—काल। प्रवृत्ति के दो प्रकार बन गए— आपातभद्र और परिणामभद्र। आपातभद्र वह होता है, जो पहले बहुत अच्छा लगता है किन्तु उसका परिणाम अच्छा

नहीं होता। परिणामभद्र वह होता है, जो पहले ज्यादा अच्छा नहीं लगता किन्तु उसका परिणाम बहुत सुखद होता है। हम इस सचाई को एक सामान्य घटना से समझें। एक छोटा बच्चा अपनी मां के साथ दर्शन करने आया। बच्चे के हाथ में एक रुपए का नोट था। मैंने पूछा—इसका क्या करोगे ?

बच्चा बोला—चुटकी खरीदूंगा, मीठी सुपारी खरीदूंगा।

‘क्यों खरीदोगे ?’

‘मुझे वह बहुत अच्छी लगती है।’

मैंने उसकी मां से पूछा—‘क्या तुम उसे चुटकी, गुटका आदि खिलती हो।’

मां बोली—‘महाराज ! हम घर पर इसे कभी नहीं खिलाते। आज किसी लड़के के पास थी। उसने इसे दे दी। अब यह उस चुटकी की जिद पकड़े हुए है।’

आज स्थिति यह है—कोई बच्चा चुटकी खाने लग जाता है, कोई जर्दा, पान-पराग और पान-मसाला खाने लग जाता है। चॉकलेट और टॉफियां कितनी खाता है, इसकी कोई गिनती नहीं है। ये सब चीजें खाने में अच्छी लगती हैं, पर इनका परिणाम क्या है ? जो मां अपने बच्चों को ऐसी आदतों से नहीं बचाती, क्या वह अपने बच्चे का नुकसान नहीं करती ? जो बच्चा इन चीजों को ज्यादा खाएगा उसका पाचन-तंत्र और लीवर खराब हो जाएगा, दांत खराब हो जाएंगे। आंत खराब होने का अर्थ है अनेक बीमारियों को निमंत्रण। आंत की खराबी बीमारी की जड़ है। पंद्रह बीस वर्ष की उम्र में ही अनेक बच्चों के दांत खराब हो जाते हैं, उन्हें निकलवाने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता। हम सोचें—दांत किसने खराब किए ? आंतें किसने खराब की ? यदि माता-पिता प्रारंभ से ध्यान रखते, बच्चों को टोफियां, चुटकी आदि छुड़ाते, उनमें त्याग के संस्कार भरते तो शायद यह स्थिति नहीं बनती।

मां की नाक

इंग्लैण्ड में एक व्यक्ति को फांसी की सजा हो गई। अपराध था चोरी का। यह एक सामान्य नियम है—फांसी देने से पूर्व चोर की अंतिम इच्छा पूरी की जाती है। चोर ने कहा—मैं अपनी मां से मिलना चाहता हूं। मां को बुलाया गया। चोर मां की ओर झुका और उसकी नाक को चबा डाला। मां चीखे उठी। लोगों ने बेटे के चंगुल से मां को छुड़ाया। चोर को डांटते हुए लोग बोले—मूर्ख ! क्या किया ? कम से कम मां के साथ तो ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। चोर ने कहा—महाशय ! आप नहीं जानते। यह फांसी आप नहीं दे रहे हैं, मेरी मां के कारण मिल

ही है। लोग यह सुनकर अवाक् रह गए। उन्होंने विस्मय से पूछा—यह कैसे कह दे हो तुम? चोर ने कहा—जब मैं छोटा बच्चा था, स्कूल में पढ़ता था। तब दो गढ़िया पेसिलें चुरा कर लाया। मैंने वे मां को दिखाई। मां ने मेरी पीठ थपथपाते हुए शाबाशी दी। मेरा साहस बढ़ा। मैं चोरी करता रहा, मां शाबाशी और प्रोत्साहन देती रही। उसका यह परिणाम आया है कि मुझे फांसी के फंदे में लटकना पड़ा है। यदि मां मुझे पहले ही दिन टोक देती, रोक देती और यह कहती—बेटा! तुमने यह अच्छा काम नहीं किया, मेरे दूध को लजाया है तो मैं कभी चोर नहीं बनता, मुझे ऐसी मौत नहीं मरना पड़ता।

क्षण का सुख : वर्षों का दुःख

दुनिया भोगों को प्रोत्साहन देती है, समर्थन देती है किन्तु जब भोगों का परिणाम भुगतना पड़ता है तब वह किसे अच्छा लगता है? उस समय भोग की प्रेरणा देने वाला अच्छा लगेगा या त्याग की प्रेरणा देने वाला? इस बिन्दु पर यह चिन्तन उभरता है—धर्म का मार्ग एक अलौकिक पथ है, त्याग का पथ है। यह पहले अच्छा न भी लगे पर परिणाम में बहुत अच्छा लगता है। इस तथ्य के संदर्भ में यह सच है—जो केवल भोग की बात को लेकर चलता है या चलता है, वह दुःख की ओर ले जाता है। उस मार्ग में थोड़ा सुख है और बहुत दुःख। इस सचाई का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है।

एक आदमी कुछ दिनों के अंतराल से दर्शन करने आया। मैंने पूछा—भाई! क्या बात है?

उसने कहा—महाराज! मैं कुछ अस्वस्थ हो गया था। मेरे आम की बीमारी रहती है, पेट ठीक नहीं रहता। एक दिन भोज में कुछ ज्यादा खा लिया इसलिए वह बीमारी उग्र बन गई।

‘तुमने ज्यादा क्यों खाया।’

‘महाराज! क्या करें? हम सामाजिक प्राणी हैं, हमें मनुहार माननी पड़ती है और जब मनभावन चीज सामने आ जाती है तब रहा भी नहीं जाता। उस समय खाना ही अच्छा लगता है।’

यह वर्तमान क्षण का सुख कितना दुःख देता है। हम यह सोचें— धार्मिक व्यक्ति कुछ छुड़ा रहा है, त्याग करवा रहा है, वह गलत रास्ते पर नहीं ले जा रहा है। वह दुःखों की ओर नहीं ले जा रहा है किन्तु महान् दुःख से बचा रहा है। वह यह

सचाई बता रहा है—थोड़े से सुख के लिए ढेर सारे दुःखों को मत बुलाओ। यह त्याग का मार्ग दुःख से बचाया जाए। धर्म के लोगों ने यह नया रास्ता खोजा था—आदमी को दुःख से बचाया जाए। धर्म यह नहीं कहता—सब कुछ त्याग दो, सब कुछ छोड़ दो। वह यह कहता है—तुम इन सबके बीच रहते हुए भी भोगों में लिप्त न बनो। कमल की तरह निर्लिप्त रहो। इतने स्वतंत्र और अलिप्त रहो कि लेप न लगे, आसक्ति न बढ़े। यदि व्यक्ति इतना समझ लेता है तो वह जीने की कला को समझ लेता है।

अतृप्ति का दौर

हम उत्तराध्ययन का बत्तीसवां अध्ययन पढ़ें। उसमें इस विषय को अत्यन्त गहराई और सूक्ष्मता से छुआ गया है। हम भोजन का ही उदाहरण लें। व्यक्ति ने किसी चीज को खाया। खाने में कोई विशेष बात नहीं है। जीवन-निर्वाह के लिए खाना भी आवश्यक है पर जिस चीज को खाया, उसके साथ एक आसक्ति बन गई। आसक्ति एक बंधन है। उसकी पूर्ति के लिए हिंसा करनी पड़ती है। हिंसा के द्वारा उस चीज का उत्पादन करना पड़ता है, रक्षण, संग्रह और व्यापार करना पड़ता है। उसका वियोग न हो, इसकी चिन्ता बनी रहती है और उसके उपभोग काल में भी तृप्ति नहीं मिलती। इसलिए उसमें सुख कहाँ है ?

*फासाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणो रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहंसे ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥*

इस प्रसंग में आगे देखें। क्या व्यक्ति खाकर तृप्त होता है? आदमी कहता है—मैं तृप्त हो गया पर दो-तीन घंटे बीतने के बाद उसे भूख फिर सताने लग जाती है। अमीर हो या गरीब, कोई भी तृप्त नहीं होता। व्यक्ति सुबह नाश्ता करता है, तृप्त हो जाता है। दोपहर का समय आता है, फिर अतृप्ति उभर आती है। आग कभी तृप्त नहीं होती। उसमें कितना ही ईंधन डालें, वह तृप्त नहीं होगी। आदमी भी कभी तृप्त होता ही नहीं है। चंदा देने वाले लोग इस सचाई को जानते हैं।

कुछ लोग चंदा मांगने के लिए सेठ साहब के घर आए। सेठ से प्रार्थना की—आप कुछ चंदा दें अकाल राहत कार्यों के लिए। सेठ बोला—भाई साहब! क्या आपने आज का समाचार पत्र नहीं पढ़ा? उसमें भारी वर्षा की घोषणा की गई है।

‘सेठजी ! अकाल राहत के लिए नहीं तो बाढ़ राहत के लिए चंदा दें, बाढ़-पीड़ितों के लिए चंदा दें । अकाल मिटते ही बाढ़ तैयार है ।’

भोग का परिणाम

मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता । समुद्र कभी तृप्त नहीं होता, चाहे उसमें कितनी नदियां गिर जाएं । भोग का एक परिणाम है अतृप्ति । मनुष्य उस अतृप्ति को बुझाने के लिए माया-मृषा का प्रयोग कर लेता है । यदि किसी चीज की आदत पड़ गई और वह आसानी से नहीं मिलती है तो व्यक्ति उसे चुराने लग जाता है । यह अतृप्ति चोरी की आदत पैदा करती है । जो चोरी करेगा, उसे झूठ बोलना पड़ेगा । वह माया-मृषा का प्रयोग करेगा । झूठ को छिपाने के लिए माया को रचना पड़ेगा । उत्तराध्ययन में भोग के इस परिणाम का मार्मिक चित्रण है—मनुष्य इतना कुछ करने पर भी दुःख से मुक्त नहीं होता—

*फासे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, फासे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वडुई लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥*

सूत्रकार कहते हैं—जब व्यक्ति झूठ बोलता है तब उसके मन में पहले तनाव पैदा होता है । झूठ बोलते समय यह माया रचनी पड़ता है कि झूठ कैसे बोलूं । यह चिन्ता सताती है—कहीं झूठ पकड़ा न जाए । उसका हृदय धड़कने लगता है । झूठ बोलने के बाद मन में पश्चाताप होता है—कहीं झूठ प्रकट न हो जाए । किसी को पता न लग जाए । उससे कर्म का महान् बंध होता है । इस प्रकार अतृप्त होकर चोरी करने वाला व्यक्ति दुःखी और आश्रयहीन बन जाता है—

*मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥*

लोभ और आसक्ति के साथ दुःख की एक परंपरा जुड़ी हुई है । त्याग इसलिए है कि हम इस दुःख की परंपरा से बच सकें । त्याग सुख छुड़ाने के लिए नहीं, दुःख से बचाने के लिए है । यदि यह बात समझ में आ जाए तो धर्म का सही मूल्यांकन हो सकता है और यह बात समझ में आ सकती है— विषय को नहीं विकार और दुःख को दूर करो । यदि हम थोड़ा-थोड़ा त्याग करना सीख जाएं, जिससे जीवन

का काम भी चल सके और इन दुःखों से भी बचते रहें। तो शान्ति और प्रसन्नता का अरतरण हो सकता है। हमारे तीर्थंकरों, अध्यात्म के आचार्यों ने यह मध्यम मार्ग सुझाया है, जो इस भव में भी कल्याणकारी है और परभव में भी कल्याणकारी है। इस मार्ग का मूल्यांकन करना और जीना, जीने की कला को उपलब्ध होना है। जिसे यह कला उपलब्ध हो जाती है, उसे सुख का रहस्य उपलब्ध हो जाता है।

इन्द्रिय विजय का सूत्र

खेती अंगूरों की और बाड़ कांटों की। यह दृश्य एक युवा श्रेष्ठी को बहुत अटपटा लगा। एक ओर अंगूर की बेलों को देखकर उसने सोचा—कितना मनोरम दृश्य है। दूसरी ओर कांटों की बाड़ को देखकर सोचा—ये कांटें इसकी मनोरमता का विनाश कर रहे हैं। युवा श्रेष्ठी ने अपने कर्मकरों से कहा—यह क्या? एक ओर इतने कोमल, मधुर और सुगंध से भरपूर अंगूरों के गुच्छे लटक रहे हैं तो दूसरी ओर कांटें ही कांटें हैं। यह अच्छा नहीं लगता। तुम इस कांटों की बाड़ को हटाओ।

कर्मकर बोले—मालिक! आप नए नए आए हैं। आपको इसका अनुभव नहीं है। यदि कांटे नहीं रहेंगे तो अंगूर भी नहीं रहेंगे।

श्रेष्ठी ने कहा—‘अंगूरों के आस पास यह कांटों की बाड़ बहुत खराब लगती है। इससे उद्यान की रमणीयता नष्ट हो रही है। तुम इसे हटाओ।’

कर्मकर क्या करते, उन्होंने बाड़ को हटा दिया। बाड़ हटी और दो चार दिन में अंगूर भी हट गए। बाग खुला पड़ा था। जो भी आया, अंगूर तोड़कर चलता बना। बाग उजड़ गया।

एक व्यक्ति ने अंगूरों का बाग लगाया और सारा ध्यान सुरक्षा पर केन्द्रित कर दिया। उसने सोचा—दीवार इतनी मजबूत बननी चाहिए कि उसमें कोई भी प्रवेश न कर सके। उसने बहुत ऊंची और सुदृढ़ दीवार बनवा दी किन्तु अंगूरों की सिंचाई पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। उद्यान सुरक्षित हो गया, उसके भीतर न कोई मनुष्य घुस सका और न कोई पशु। पर पर्याप्त सिंचाई के अभाव में अंगूर लगे ही नहीं।

ये दोनों घटनाएं सामने हैं। इसका निष्कर्ष है—मूल पर ध्यान और बाड़ पर ध्यान—दोनों एकांगी दृष्टिकोण हैं। केवल सिंचाई पर केन्द्रित दृष्टिकोण भी अधूरा है और केवल बाहरी सुरक्षा पर केन्द्रित दृष्टिकोण भी अधूरा है। परिपूर्ण दृष्टिकोण यह है—भीतर की सिंचाई चले और बाह्य बाड़ भी मजबूत रहे। ये दोनों बातें होती हैं तब निष्पत्ति प्राप्त होती है।

इन्द्रिय-विजय का सूत्र

जहां इन्द्रिय विजय का प्रश्न है, वहां भी इन दोनों बातों पर ध्यान देना होगा। मूल ध्यान देना है निग्रह पर। इन्द्रियां अपने आप में जटिल समस्या हैं। ये ही ज्ञान के स्रोत हैं और ये ही राग-द्वेष के निमित्त हैं। आंख से हमें देखना है। देखने का एक रूप है संविज्ञान चेतना। उसका दूसरा रूप है संवेदन चेतना। संविज्ञान और संवेदन—दोनों चेतनाओं का दरवाजा एक है। दरवाजा खुला है तो उसमें से आदमी भी आ सकता है, गधा भी आ सकता है। एक ही खिड़की है। खिड़की को बंद करो तो प्रकाश और हवा नहीं आएगी। यदि उसे खोल दें तो आंधी भी आएगी, रेत भी आएगी। क्या ऐसा कोई विकल्प है, जिससे प्रकाश और हवा आए पर आंधी न आए, रेत न आए? क्या ऐसा कोई ढक्कन है?

अध्यात्म के आचार्यों ने एक उपाय निकाला मनोज्ञ और अनमोज्ञ के निग्रह का। आंख को बंद करने की जरूरत नहीं है। कान और जीभ को भी बंद करने की जरूरत नहीं है। हम इन्द्रियों से काम लेंगे क्योंकि हमारे ज्ञान के वे ही स्रोत हैं। हमारा ज्ञान आता कहां से है? बाह्य जगत् को जानने का, उसके साथ संपर्क स्थापित करने का महला माध्यम है इन्द्रिय चेतना। यदि इन्द्रियां न हों तो जगत् का क्या अर्थ रह जाएगा? एक आदमी को सुनाई नहीं देता। उसके लिए जगत् का एक हिस्सा कट गया। जो गूंगा और बहरा—दोनों होता है, उसके लिए जगत् का एक बहुत बड़ा हिस्सा कट जाता है। एक बहरा आदमी कैसी कैसी कल्पनाएं करता होगा? उसे कहा कुछ जाता है और वह उसका अर्थ कुछ निकाल लेता है। आंख है देखने का माध्यम, कान है सुनने का माध्यम, जीभ है बोलने का माध्यम। जिसके ये तीनों नहीं हैं, उसके लिए जगत् का क्या कोई अर्थ हो सकता है? उसके लिए जगत् का होना न होने जैसा हो जाता है।

इन्द्रिय-विजय क्यों?

प्रश्न हो सकता है—इन्द्रियों को जीतने की बात क्यों सोचें? उनके विकास की बात सोचनी चाहिए। इन्द्रियों के संदर्भ में दो शब्द प्रयुक्त होते हैं—पटुता और अपटुता। जिसमें इन्द्रिय-पटुता होती है, वह बहुत ज्ञानी बन जाता है। संभिन्नस्रोतो-लब्धि इन्द्रिय पाटव का ही विकास है। जिसने इन्द्रिय का इतना विकास कर लिया, वह हजार कोस दूर की चीज देख लेता है, इतनी दूरी की आवाज सुन लेता है। जिस इन्द्रिय में इतना पाटव है, उसका द्वार रोकने की जरूरत ही नहीं है। हम

इन्द्रिय-विजय की बात को समझें, उसका हृदय समझें, जिससे इन्द्रियों को कोसने की जरूरत न पड़े ।

बादशाह ने बीरबल से कहा—जिसके आगे वान शब्द लगता है वह बड़ा निकम्मा और अड़ियल होता है । जैसे गाड़ीवान्, धनवान्—ये सब अड़ियल प्रकृति के होते हैं । तुम दीवान हो, तुम्हारे आगे भी वान लगता है इसीलिए तुम भी वैसे ही हो ।

बीरबल ने तपाक से उत्तर दिया—मेहरबान ! आप ठीक फरमा रहे हैं ।

बीरबल यह कहकर बादशाह को अपनी कोटि में ले आया । बादशाह यह सुन अवाक् रह गया ।

जब हम बिना सोचे समझें कोई बात कहते हैं तब ऐसा ही होता है ।

इन्द्रिय-विजय क्या है ? इस संदर्भ में उत्तराध्ययन सूत्रकार ने एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है—‘श्रोत्र आदि इन्द्रियों के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द आदि विषयों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है । वह तत्संबंधी—राग द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता तथा पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है । यह एक बिल्कुल नई बात है । वे ही इन्द्रियां कर्म-बंधन के हेतु भी हैं और उनके निर्जरण का हेतु भी । इस संदर्भ में हम संविज्ञान चेतना और संवेदन चेतना को अलग अलग समझें । हमने आंख से देखा, केवल देखा । यह संविज्ञान चेतना है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का क्षयोपशम है । यदि हमने उसके साथ संवेदन की चेतना को जोड़ दिया, प्रियता और अप्रियता की चेतना को जोड़ दिया तो मोहनीय कर्म जुड़ गया । इस स्थिति में संविज्ञान चेतना गौण हो गई और संवेदन की चेतना प्रधान । इसका अर्थ यह हुआ—आवरणीय कर्म के साथ साथ मोहनीय कर्म का बंध हो गया । इससे न तन्निमित्तक कर्म का बंध रुकता है और न तन्निमित्तक पूर्वकृत कर्म का बंध क्षीण होता है । जो व्यक्ति आंख से केवल देखता है, संविज्ञान करता है, किन्तु उसके साथ संवेदना की चेतना को नहीं जोड़ता, वह चक्षु से संबंधित नए कर्म का अर्जन नहीं करता और पूर्व बद्ध चक्षु से संबंधित कर्म को क्षीण कर देता है ।

जितेन्द्रियता में बाधा

हम मूल बात को समझें—प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ से कैसे दूर रह सकें ? इन्द्रिय-विजय में बाधा है मनोज्ञ-अमनोज्ञ की चेतना । जब तक व्यक्ति की यह चेतना जागृत है, इन्द्रिय-विजय संभव नहीं हो सकती । हम साधना कहां से शुरू

करें? हम उसके लिए बाड़, दीवार या कांटे लगाएं पर ध्यान केवल उसी पर केन्द्रित न रहे। ध्यान इस पर केन्द्रित होना चाहिए—अंगूरों के बाग की सिंचाई ठीक हो रही है या नहीं? मनोज्ञता या अमनोज्ञता का भाव कम हो रहा है या नहीं? हमें उस भाव का निग्रह करना है। यह नहीं बताया गया, आंख का निग्रह करो, कान एवं जीभ का निग्रह करो। यह भी नहीं बताया गया, रूप का निग्रह करो। किन्तु यह कहा गया, राग-द्वेष का निग्रह करो, प्रिय-अप्रिय एवं मनोज्ञ-अमनोज्ञ भाव का निग्रह करो। हमारी साधना का बिन्दु यह है। यदि इस बिन्दु को नहीं पकड़ा और केवल सुरक्षा में अटके रहे तो शायद उलझ जाएंगे।

महामात्य कौटिल्य ने लिखा 'अवश्येन्द्रियः चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति— जिसकी इंद्रियां वश में नहीं हैं, वह चातुरन्त राजा भी सद्य विनाश को प्राप्त होता है। चक्रवती कहलाता है चातुरन्त राजा। इतना शक्तिशाली राजा भी इंद्रियों का वशवर्ती होने पर नष्ट हो सकता है। एक राजा के लिए इंद्रिय-जय बहुत जरूरी है। प्रश्न आया—इंद्रिय-जय किसे माना जाए? कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहा गया— **इन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात् कार्यः**—काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष—इन छह का त्याग कर इंद्रियों को विजित किया जा सकता है। कौटिल्य ने छह घटनाओं के निदर्शन भी प्रस्तुत किए हैं। कौन सम्राट् काम के कारण नष्ट हो गया? कौन लोभ और मद के कारण नष्ट हो गया? कौटिल्य ने इसे विस्तार से प्रस्तुति दी है।

काम और प्रसक्ति

धारणा यह है—काम-स्पर्शन इंद्रिय का विषय है। चिन्तन करने पर लगता है, काम स्पर्शन इंद्रिय का विषय नहीं है। स्पर्शन इंद्रिय का कार्य दूसरा है। हवा ठण्डी लगी और मनोज्ञ भाव आया तो स्पर्शन इंद्रिय का राग हो गया। हवा गर्म लगी, लू लगी तो अमनोज्ञ भाव आ गया। इसका विषय है— स्पर्शों का अनुकूल तथा प्रतिकूल संवेदन। काम है कर्मेन्द्रिय से संबंधित। हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और पांच कर्मेन्द्रियां। उपस्थ, पाणि, मुख, पैर, मन ये कर्मेन्द्रियां हैं। काम के कारण इंद्रिय की प्रसक्ति बनती है। किन्तु काम अलग है और प्रसक्ति अलग है। प्रसक्ति का एक कारण है काम। दूसरा कारण है क्रोध। क्रोध के कारण इंद्रियों की प्रसक्ति बढ़ती है, द्वेषात्मक प्रवृत्ति जन्म लेती हैं। किसी चीज को देखा और घृणा उभर आई। कभी कभी ऐसी घृणा भी व्यक्ति के मन में उभर जाती है कि उसे खाना तक अच्छा नहीं लगता। इसीलिए अघोरी साधना में इस बात पर बल दिया गया—

केसी चीज से घृणा मत करो। कलकत्ता में हमने एक अघोरी साधक को देखा। उसको यह साधना कराई जाती है—इस दुनिया में अभक्ष्य कोई चीज नहीं है, घृणा करने जैसा कुछ भी नहीं-है। तुम किसी से घृणा मत करो।

यह भी कहा गया—राग करने जैसा कुछ भी नहीं है। तुम किस पर राग करते हो। बौद्ध दर्शन में शव-दर्शन का प्रयोग रहा है। साधक को श्मशान में ले जाया जाता है, उसे मृत प्राणियों के कलेवर दिखाए जाते हैं। कहा जाता है—तुम मुर्दे के एक एक अवयव को देखो ! वास्तव में यह है क्या ? इस प्रकार के भाव पैदा करो, जिससे राग वर्जित हो जाए।

इन्द्रिय-निग्रह

एक है राग पर विजय का प्रयोग और एक है घृणा पर विजय का प्रयोग। महावीर ने दोनों बातों को गौण किया। न ओघड़ साधना वाली बात पर बल दिया और न श्मशान साधना वाली बात पर। महावीर ने इस सूत्र को पकड़ा—यदि आध्यात्मिक बनना है, आध्यात्मिक चेतना को जगाना है तो केवल इन निमित्तों के आधार पर मत चलो। महावीर ने ज्यादा बल दिया उपादान पर। उन्होंने गौण को भी स्थान दिया पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया जड़ पर, मूल उपादान पर। महावीर ने कहा—कोई घृणा पैदा करने वाली वस्तु हो सकती है और कोई प्रियता पैदा करने वाली वस्तु। तुम्हें उससे क्या लेना है ? तुम ध्यान दो अपने मनोज्ञ और अमनोज्ञ भाव पर। तुम उस भाव का निग्रह करो। तुम्हें मनोज्ञ पर राग नहीं करना है और अमनोज्ञ पर द्वेष नहीं करना है। तुम ऐसा करोगे तो इन्द्रिय का निग्रह हो जाएगा।

हम कौटिल्य की भाषा को पढ़ें—काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष—ये सब इन्द्रिय की आसक्ति को पैदा करते हैं। इनका निग्रह करो, इन्द्रिय-विजय हो जाएगी। महावीर ने कहा—राग-द्वेष का निग्रह करो, इन्द्रिय-विजय हो जाएगी। हम दोनों की भाषा को मिलाएं। कहां अंतर है ? इन्द्रिय-विजय तभी संभव है, जब राग-द्वेष को जीतें, काम-क्रोध आदि को जीतें। प्रश्न हो सकता है—राग-द्वेष बहुत सघन है। कोई आदमी एक दिन में राग-द्वेष पर विजय कैसे कर पाएगा ? यही जानने का बिन्दु है। राग-द्वेष विजय का मतलब यह नहीं है कि हम वीतराग बन जाएंगे, किन्तु हम राग को बांट लें। उसके हजारों प्रकार हैं। हम पहले इन्द्रिय को पकड़ें, आंख को पकड़ें। आंख से जुड़ी है राग की एक प्रणाली। हम संकल्प करें—चक्षु संबंधी राग पर नियंत्रण करना है। इस संकल्प की एक पद्धति है। हमने

यह एक धारणा बना ली, एक मार्ग निश्चित कर लिया। चक्षु-इन्द्रिय निग्रह के लिए हम संकल्प का प्रयोग करें। कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठ जाएं, प्रतिदिन संकल्प को बढ़ाते चले जाएं। एक दिन, दो दिन...दस दिन यह प्रयोग चले। एक दिन स्थिति यह आ जाएगी—संकल्प प्रबल बनता चला जाएगा। संविज्ञान की शक्ति बढ़ती चली जाएगी। जैसे-जैसे संविज्ञान बढ़ेगा, संवेदना स्वतः कम होती चली जाएगी।

स्वादिष्ट क्या ?

प्रत्येक आदमी स्वादिष्ट चीज खाना चाहता है। सबसे स्वादिष्ट चीज किसे माना जाए? किसी के लिए घेवर स्वादिष्ट हो सकता है तो किसी के लिए जलेबी। एक आदमी को भोज में बुलाया गया। उसे जलेबी परोसी गई। जलेबी देखते ही उसकी भूख तीव्र हो गई। किसी ने पूछा—कितनी जलेबी खाओगे? उसने कहा—मैं दस मण जलेबी खा सकता हूं।

आ तो म्हारै आंकल बांकल, ई में पूरो रस।

खल खाऊं छह मण तो, आ खाऊं मण दस ॥

आज रसगुल्ला, रसमलाई आदि को स्वादिष्ट माना जाता होगा। क्या एक साधक व्यक्ति, इन्द्रिय विजयी, रसगुल्ला न खाए? स्वादिष्ट पदार्थ न खाए? कुछ लोग यह तर्क भी देते हैं—आप यह नहीं खाते, वह नहीं खाते। उस चीज ने आपका क्या बिगाडा है? उन्हें क्यों नहीं खाना चाहिए? क्या उन्हें खाने में दोष है? खाने में कोई आपत्ति नहीं है पर खाने की दृष्टि में अंतर रहता है। एक प्रचुर राग वाला व्यक्ति रसगुल्ला खा रहा है और स्वादविजय वाला व्यक्ति रसगुल्ला खा रहा है। घटना समान है, पर परिणाम भिन्न भिन्न होगा। स्वाद में डूबने वाला व्यक्ति सोचेगा, अहा! कैसा स्वाद है! वह स्वादानुभूति में इतना डूब जाएगा कि पूरा स्वाद ले ही नहीं पाएगा। उसे पदार्थ का स्वाद नहीं आएगा, केवल आसक्ति का स्पर्श होगा। सही अर्थ में पदार्थ का स्वाद वह ले सकता है, जिसमें आसक्ति नहीं है, जो अनासक्त भाव से खा रहा है। जो आसक्ति से खाता है, वह खाता ही चला जाता है। वह न स्वाद पर ध्यान देता है और न मात्रा पर। एक व्यक्ति ने बताया—हम बारात में गए। बारातियों को परोसे गए राजभोग। दो व्यक्ति राजभोग पर टूट पड़े। उन दो व्यक्तियों ने छह सौ राजभोग खा लिए। क्या एक समय में इतने राजभोग खाए जा सकते हैं? वस्तुतः वह खाना नहीं खा रहा है, आसक्ति को खा रहा है। एक साधक सीमित मात्रा में खाएगा, आवश्यकता से अधिक नहीं खाएगा, स्वाद की दृष्टि से नहीं खाएगा। वह स्वास्थ्य, साधना और संयम की दृष्टि से खाएगा।

सामान्य आदमी भी इन्द्रियों से काम लेता है और साधक भी । एक द्रष्टा है और एक अद्रष्टा । एक भोगी है और एक त्यागी । एक खाता है शरीर को चलाने के लिए और एक खाता है आसक्ति की तृप्ति के लिए, भोग के लिए । यह अंतर आता है दृष्टिकोण से । महावीर ने इसी सूत्र को प्रस्तुत किया—वस्तु के प्रति होने वाली आसक्ति का त्याग, प्रिय-अप्रिय संवेदन का त्याग । हम इस बात को महत्त्व दें । दोनों बातें हमारे सामने हैं—अंगूरों की सुरक्षा और बाड़ की सुरक्षा । यह बात समझ में आए तो इन्द्रिय-निग्रह या इन्द्रिय-विजय का रहस्य समझ में आ सकता है । उसके लिए बहुत सारे आंतरिक और बाह्य प्रयोग निर्दिष्ट हैं । इन प्रयोगों को जाना जा सकता है, इनका आलंबन लिया जा सकता है । इनका आलम्बन लेने वाला ही इन्द्रिय-विजय के क्षेत्र में, केवल संविज्ञान चेतना के क्षेत्र में अपने चरण आगे बढ़ा सकता है ।



आवश्यक है भोग का संयम

मन का काम है सोचना, चिन्तन करना। वह अपना काम करता है। हमें अपना सर्वे करना चाहिए, अपना आत्मावलोकन करना चाहिए। हम आत्म-निरीक्षण करें—चौबीस घंटों में मन किस विषय पर ज्यादा सोचता है? जागृत अवस्था में किस विषय पर ज्यादा सोचता है? नींद की अवस्था में किस विषय पर ज्यादा सोचता है? सामान्यतः एक व्यक्ति छह-सात घंटे सोता है। वह सतरह-अठारह घंटे जागृत अवस्था में रहता है। हम नींद की बात छोड़ भी दें, जागृत अवस्था का निरीक्षण करें—मन मुख्यतः किस विषय पर केन्द्रित रहता है? यह प्रश्न हो सकता है। यह प्रश्न व्यक्ति को यह बोध दे सकता है कि वह किस दिशा में जा रहा है।

चिन्तन : केन्द्र और परिधि

महावीर ने कहा—मनुष्य भोग के बारे में सबसे अधिक चिन्तन करता है। व्यक्ति ऑफिस में बैठा है। चाय पीने का समय होता है। उसका मन चाय में उलझ जाता है। भोजन का समय होता है, मन भोजन में उलझ जाता है। कभी टी. वी. देखने का समय हो जाता है और कभी अखबार पढ़ने का समय। व्यक्ति इन सबमें अपने आपको उलझाता चला जाता है। पांचों इन्द्रियों के विषय उसके सामने घूमते रहते हैं। जब वह इन्द्रियों की दौड़ से थक जाता है तब मन की दौड़ शुरू हो जाती है।

‘भोगामेव अणुसोयंति’—यह कितनी अनुभव भरी वाणी है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं—मनुष्य में सबसे ज्यादा तनाव है कामना का। इसका निष्कर्ष भी यही है—मनुष्य सबसे ज्यादा चिन्तन भोग का करता है। वह पैसा कमाता है भोग के लिए। और भी जो कुछ करता है, भोग के लिए करता है। केन्द्र में है भोग। केन्द्र में है काम और कामना। उसकी परिधि में हमारा सारा चिन्तन चलता है। ऐसा लगता है—भोग मनुष्य की एक प्रकृति बन गया है।

भोग : प्राचीन अवधारणा

आज के युग को भोगवादी युग कहा जाता है। क्या अतीत बहुत त्यागवादी रहा है? यह कहना बड़ा मुश्किल है कि अतीत के युग में भोग नहीं था, भोग करने

वाले नहीं थे, कोरा वैराग्य था, त्याग था, ऐसा होना संभव नहीं है। यह सचाई है, अतीत में भोग रहा है, प्रबल भोगवाद रहा है। प्रश्न है—आज के युग को ही यह दोष क्यों दिया जा रहा है? क्यों आरोपण किया जा रहा है कि यह भोगवादी युग है? इसका कारण क्या है? इसका भी एक कारण है। शब्द का कोई भी प्रयोग अकारण नहीं होता। प्राचीन काल में भी भोग था। जब से मनुष्य है तब से भोग है। पहले भोग था किन्तु युग भोगवादी नहीं था। उस समय पर्याप्त अंकुश था, नियंत्रण था। धारणाएं भिन्न थीं। संयम का वातावरण था। इन दो शताब्दियों में, मुख्यतः इस शताब्दी में भोग के बारे में धारणाएं बदल गईं। जब धारणा बदलती है, दृष्टिकोण बदलता है, युग का नाम भी बदल जाता है। पुराना युग भोग का होने पर भी भोगवादी नहीं कहलाया, क्योंकि भोग को एक विवशता माना गया, अनावरणीय माना गया।

भोग : अभोग

भोग के संदर्भ में एक स्थिति है अभोग की। कोई आदमी उसका प्रयोग ही नहीं करता। व्यक्ति ने उपवास किया, अभोग हो गया। खाया ही नहीं, त्याग हो गया। भोग के संदर्भ में तीन बातों पर बार-बार ध्यान देना चाहिए। पहली बात—भोग के पीछे आसक्ति की मात्रा कितनी है? दूसरी बात है—भोग की मात्रा कितनी है? तीसरी बात है—आदमी जो भोग करता है, शरीर की आवश्यकता की पूर्ति करता है, उसके पीछे धारणा क्या है? दृष्टिकोण कैसा है?

आसक्तेः कियती मात्रा, मात्रा भोगस्य कीदृशी ।

दृष्टिकोणः किंप्रकारः, भोगे चिन्त्यमिदं मुहुः ॥

भोगवाद : परिणाम

आज भोग के बारे में दृष्टिकोण बदल गया। भोग के साथ जो भोगातीत चेतना की एक अवधारणा थी, वह आज नहीं है। जहां भोग है, वहां उसके साथ भोगातीत चेतना भी होनी चाहिए। आज यह दृष्टिकोण ही बदल गया, मूल दृष्टि ही नहीं रही, केवल भोगवाद चल रहा है। उच्छृंखल भोगवाद, उन्मुक्त भोगवाद के सेवाय कुछ लगता ही नहीं है। इसका परिणाम है, आज बीमारियां बहुत बढ़ गई हैं। अगर भोग के साथ भोगातीत चेतना का विकास होता तो इतनी बीमारियां नहीं बढ़तीं। यह आज का एक विकट प्रश्न है। बहुत बार डॉक्टर भी कहते हैं, इतने अस्पताल बढ़ते जा रहे हैं। उन सब में मरीजों की भीड़ है। कहीं भी स्थान खाली

नहीं है। दवाइयां बनाने वाली इतनी बड़ी-बड़ी कम्पनियां बन गईं फिर भी न डॉक्टर को फुरसत है, न दवा देने वालों को फुरसत है, न दवा लेने वालों को फुरसत है। चारों ओर रोग का एक चक्का चल रहा है। इसका कारण क्या है ?

सीमा के अतिक्रमण का अर्थ

हम महावीर की वाणी को पढ़ें। महावीर ने कहा—भोग काल में रोग पैदा होते हैं। संस्कृत कवि ने भी यही कह दिया—**भोगा रोगफला**—भोग का फल है रोग। इस बात को बहुत कम पकड़ा गया—इन्द्रियों का भोग एक सीमा तक ही उचित हो सकता है। सीमा के अतिक्रमण का अर्थ है रोग को खुला निमंत्रण। बहुत सारे शारीरिक और मानसिक रोग इसी कारण से पैदा होते हैं। यदि राग या द्वेष भीतर छिपा है तो बीमारियों को पनपने का मौका मिलेगा। यदि राग और द्वेष नहीं हैं तो बीमारियों को पनपने का मौका सहज नहीं मिलेगा। चलते समय पत्थर की चोट लग गई, कांटा चुभ गया, हम उसे रोग न मानें। यह कोई मुख्य बीमारी नहीं है। वर्षा हुई, जुकाम लग गया, यह कोई खास बीमारी नहीं है। बीमारी वह होती है, जो सताने वाली होती है। जो बीमारी घर जमा कर बैठ जाती है, वह बीमारी है। हृदय रोग, कैंसर, अल्सर आदि-आदि जो बीमारियां हैं, वे हमारे राग एवं द्वेष से उत्पन्न हुई बीमारियां हैं, भोग के कारण उपजी हुई बीमारियां हैं। पहले डॉक्टर बीमार को सीधे देखकर जान लेते थे कि कौन-सा रोग है लेकिन अब यह सोचा जाता है—कौन व्यक्ति किस बीमारी से बीमार है। लय बिगड़ने से बीमारी बिगड़ती है। लय को संवारना बड़ा कठिन होता है। जितनी मोहकर्म की प्रकृतियां हैं, वे हमारे मस्तिष्क की स्वाभाविक लय में बाधा पहुंचाती हैं। मन में कोई विचार की तरंग उठती है, मस्तिष्क की लय बिगड़ जाती है, उसमें बाधा आ जाती है।

कौन होता है बीमार ?

यह एक तथ्य है—जो बीमार होता है, उसे बीमारी होती है। पूछा गया—नारकी में कौन पैदा होता है ? मनुष्य पैदा होता है या तिर्यञ्च ? कहा गया—नारकी में न मनुष्य पैदा होता है, न तिर्यञ्च पैदा होता है। नारकी में मनुष्य कभी जाता ही नहीं, देवता पैदा होता ही नहीं। नारकी में नैरयिक ही पैदा होता है। प्रश्न है—बीमारी किसको पकड़ती है ? कहा गया—बीमार को ही बीमारी पकड़ती है। स्वस्थ को बीमारी कभी नहीं पकड़ती। यह बात बहुत वैज्ञानिक है। हम इस दृष्टि से देखें। एक जैविक रासायनिक श्रृंखला होती है, रोग-प्रतिरोधक शक्ति होती है, वह

रोग से बचाती है। जिस व्यक्ति की रोग-निरोधक शक्ति कमजोर हो जाती है, उसे रोग घेर लेते हैं। जो व्यक्ति जितना भोग करेगा, उसकी उतनी ही रोग-निरोधकता कम होती चली जाएगी। कौन-सी बीमारी के कीटाणु हैं, जो हमारे भीतर नहीं हैं? सब बीमारियों के कीटाणु आदमी के भीतर घूम रहे हैं किन्तु उसकी रोग-प्रतिरोधक शक्ति प्रबल है इसलिए वे कीटाणु आक्रमण नहीं कर पा रहे हैं। रोग-निरोधक शक्ति इतनी तेज है कि वह सारे कीटाणुओं को समाप्त कर देती है।

भोग और रोग

बन्धन किसके होता है? जो बंधा हुआ है, उसके बन्धन होता है। जो मुक्त हो गया, उसके बन्धन नहीं होता। रोग उसी के पास जाते हैं, जो रोगी होता है। जो अरोगी है, उसे रोग नहीं होता।

*बद्धं कर्माणि बध्नन्ति, रोगो गच्छति रोगिणाम् ।
अबद्धो न भवेद् बद्ध, विरागो नामयास्पदम् ॥*

रोग पैदा होते हैं क्योंकि भोग का रोग भीतर बैठा है। अगर भोग का रोग नहीं है तो रोग पैदा नहीं होगा। यदि व्यक्ति भोगी है तो वह रोगी है। अगर व्यक्ति भोगी नहीं है तो वह रोगी नहीं है। हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि जहां भी रोग है वहां निश्चित रूप से किंचित् मात्रा में भोग भी योग दे रहा है, अपना काम कर रहा है। अगर भोग नहीं होता तो रोग होता ही नहीं। रोगी ही बार-बार रोगी होता है लेकिन जो रोगी नहीं है, उसे रोगी बनाया ही नहीं जा सकता।

प्रलय का सूत्र

हमारा भोगवाद के प्रति दृष्टिकोण बदले। हमारे लिए भोग अनिवार्य है, आवश्यक है, हम खुले दिल से भोग करें, यह धारणा जिस दिन बन जाती है, रोग को निमंत्रण मेल जाता है। आज भोगातीत चेतना के विकास की जरूरत है और वह इसलिए है के आदमी अच्छा जीवन जीना चाहता है। मैं यह नहीं मानता कि दुनिया में भोग मिट जाएगा, भोग नहीं चलेगा किन्तु भोग के साथ भोगातीत चेतना का विकास भी चले, यह अपेक्षित है। यानी त्याग की चेतना, भोग-संयम की चेतना का विकास भी होना चाहिए। यदि कोरा भोग चलता रहा तो खतरा बढ़ जाएगा। अणुबम से ज्यादा मलयंकारी बन जाएगा यह उच्छृंखल भोगवाद। अणुबम न जाने कब प्रलय करेगा कंतु यह भोगवाद अपने आप प्रलय का सूत्र बन जाएगा।

आवश्यक है अंकुश

हम वर्तमान स्थिति को देखें। आज हिन्दुस्तान की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। विदेशों की स्थिति इससे भी ज्यादा खराब है। इतनी समस्याएं, इतनी जटिलताएं और मानसिक संताप बढ़ रहा है कि व्यक्ति को कहीं कुछ सूझ नहीं रहा है, उसे कोई रास्ता ही नहीं मिल रहा है। इसका कारण है भोगवाद को सब कुछ मान लेना। ऐसा लगता है संयम करने की बात जैसे सिखाई ही नहीं गई है। इस संदर्भ में हम महावीर वाणी का मूल्यांकन करें। समस्या के समाधान के लिए आवश्यक है— भोग की अति न हो। प्रत्येक चीज की सीमा होनी चाहिए, अंकुश होना चाहिए, नियन्त्रण होना चाहिए। जहां कहीं अति होती है शायद खराबी पैदा हो जाती है। कुछ लोग तर्क देते हैं—त्याग की भी अति नहीं होनी चाहिए। प्रश्न है—अति कहां होती है? इन्द्रियों का भोग कौन नहीं करता? क्या एक मुनि इन्द्रियों का भोग नहीं करता? एक मुनि खाता भी है, देखता भी है, सुनता भी है, सूंघता भी है, छूता भी है। इन्द्रियों का भोग होता है किन्तु उसके पीछे दो बातें जुड़ी हैं—एक है अनासक्ति का भाव और दूसरी है मात्रा का विवेक। यदि भोग के साथ ये दो बातें जुड़ जाएं तो भोग खतरनाक नहीं बनेगा। वह अपनी प्रकृति से चलेगा, व्यक्ति के लिए खतरा पैदा नहीं करेगा।

त्याग करना भी सीखें

आज भोगवाद की कोई सीमा-रेखा नहीं है, इसीलिए इस युग को भोगवादी युग कहा जा रहा है। आज यह धारणा मिट गई कि भोग के साथ त्याग की भावना होनी चाहिए। पांच इन्द्रियों के विषय का सेवन करें तो साथ में उनका त्याग करना भी सीखें। भोग की अति न हो। भोग का संयम करें। भोग के साथ भोगातीत चेतना का अनुभव करें, यह आवश्यक है। हमारी जो चेतना है, वह स्वभाव से भोगातीत है, हम उसका अनुभव करें, उसे देखें। यदि हम भोग-चेतना और भोगातीत चेतना—इन दोनों का संतुलन बना पाए तो जीवन की स्थिति लय-बद्ध बन जाएगी, जीवन की लय टूट नहीं जाएगी। इस संतुलन से जीवन की सरसता भी समाप्त नहीं होगी, जीवन स्वस्थ बना रहेगा। इस पूरे दृष्टिकोण को समग्रता से समझा जाए, भोग-नियंत्रण एवं भोग-संयम की आवश्यकता का अनुभव किया जाए तो स्वस्थ समाज की रचना का सपना सच बन जाए।



भोग : अकरण का संकल्प और तादात्म्य

साधना की प्रक्रिया : अवबोध

एक साधक बहुत वर्षों से साधना कर रहा था। एक दिन वह गुरु के पास जाकर बोला—‘गुरुदेव ! लंबे समय से साधनारत हूँ, पर अभी तक साधना नहीं जागी। अभी तक मैं कहीं हुई, सुनी हुई, पढ़ी हुई बात ही दोहरा रहा हूँ। अनुभव अभी तक नहीं जागा है। वह कब जागेगा?’

गुरु बोले—‘देखो, केवल रूढिगत साधना करते रहने से अनुभव नहीं जागता। उसको जगाने एक पूर्ण प्रक्रिया है। जब तक साधक इस प्रक्रिया से नहीं गुजरता, उस प्रक्रिया को पूरा नहीं जीता, तब तक अनुभव नहीं जागता।’

‘गुरुदेव ! वह प्रक्रिया क्या है?’

‘वत्स ! अनुभव तब जागता है जब ये तीन बातें क्रियान्वित होती हैं। पहली है—अकरण का संकल्प। भोग न भोगना एक बात है परंतु भोग न भोगने का संकल्प करना, अकरण का संकल्प करना दूसरी बात है। एक आदमी मिठाई नहीं खाता क्योंकि वह सुगर का मरीज है और डाक्टर ने मिठाई खाने का वर्जन किया है। उसने मिठाई का भोग छोड़ दिया। यह व्यवहार की बात है। अध्यात्म उससे आगे है। व्यवहार शरीर से जुड़ी प्रक्रिया है। जब उसके साथ संकल्प की कड़ी जुड़ती है तब वह अध्यात्म बन जाती है। जब भोग न करने के साथ आंतरिक संकल्प जुड़ जाता है कि मुझे यह नहीं करना है, तब वह व्यावहारिक न रहकर आध्यात्मिक प्रक्रिया बन जाती है।

भोग न भोगना—इसका भी अपना एक मूल्य है, पर वह है छोटा। जब उसके साथ संकल्प जुड़ जाता है, अकरण की बात जुड़ जाती है, तब वह अत्यन्त मूल्यवान् हो जाता है। यही अध्यात्म है।

बीमारी के लिए छोड़ना एक बात है, पर आत्मशुद्धि के लिए अकरण करना दूसरी बात है। यह उदात्तीकरण की प्रक्रिया है। संकल्प को जोड़ने से क्रिया का स्वरूप बदल जाएगा।

दो व्यक्ति हैं। एक धर्म को समझता है और दूसरा धर्म को नहीं समझता। दोनों आसन-प्राणायाम करते हैं परंतु दोनों के लक्ष्य की भिन्नता है। धर्म को नहीं जानने वाला आसन-प्राणायाम शारीरिक स्वास्थ्य के लिए करता है और धर्म को जानने वाला कर्म-निर्जरा के लिए, संस्कारों के परिष्कार के लिए आसन-प्राणायाम करता है। क्रिया दोनों एक ही करते हैं, पर लक्ष्य की भिन्नता के कारण क्रिया की परिणति भिन्न-भिन्न हो जाती है।

आचार्य भिक्षु ने एक महत्पूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा— पुण्य के लिए कोई साधना मत करो। आत्मशुद्धि के लिए धर्म की आराधना करो। लौकिक उदाहरण देते हुए उन्होंने समझाया— तूड़ी और पलाल पैदा करने के लिए कोई खेती नहीं करता। खेती की जाती है अनाज के लिए। साथ-साथ तूड़ी और पलाल तो होगा ही। यही व्यावहारिक और आध्यात्मिक सोच का अंतर है।

जिसका दृष्टिकोण केवल व्यावहारिक होता है, वह केवल भोग को छोड़ देता है, पर उसके साथ संकल्प को नहीं जोड़ता। जब तक संकल्प को नहीं जोड़ा जाता तब तक जो परिणाम होना चाहिए वह नहीं होता। संकल्प उसी क्रिया को और अधिक तेजस्वी बना डालता है।

अनुभव को जगाने का पहला सूत्र है—न करने का संकल्प। इतने मात्र से काम नहीं बनता। संकल्प ग्रहण कर लिया, पर भाव कहीं दूसरी ओर भाग रहा है। मिठाई नहीं खाऊंगा—यह संकल्प ग्रहण कर लिया, परन्तु भीतर का भाव कहता है—रोज मत खाओ, पर कभी-कभी खाने में क्या हर्ज है। अच्छी चीज बार-बार नहीं मिलती। इससे मन ललचा जाता है। भाव के साथ मन भी बह जाता है। वह भी वैसा ही बन जाता है। अब भाव और संकल्प में संघर्ष होता है। भाव दूसरी दिशा में जाता है और मन दूसरी दिशा में। दोनों में टकराहट होती है। इस स्थिति में अनुभव नहीं जागेगा।

ठाकुर ने आलू का प्रत्याख्यान कर लिया। तीर्थयात्रा पर गया। एक स्थान पर जीमनवार था। वह भोजन करने बैठा। वहां आलू की सब्जी बनी थी। परोसने वाले से कहा—आलू नहीं, केवल झोल आने दो। उसने ब्रैसा ही किया परंतु चम्मच में एक आलू भी आ गया और उसने उसे ठाकुर की थाली में परोसा। ठाकुर उसे खाने लगा तब पास में बैठे एक भाई ने उसे प्रयाख्यान की स्मृति दिलाई। ठाकुर बोला— यह आलू नहीं, लुढकन है। लुढकते लुढकते आ गया।

मैं क्या करूँ ?

ठाकुर ने संकल्प लिया, पर मन का भाव नहीं बदला । यह दोनों के बीच का संघर्ष है । संकल्प के साथ मन का भाव भी बदलना चाहिए, तब अनुभव के जागने की बात प्राप्त होती है ।

इन दो सूत्रों के साथ तीसरा सूत्र भी परम आवश्यक है । जब परमात्मा के साथ, आत्मा के साथ तादात्म्य नहीं जुड़ता, तब तक अनुभव नहीं जागता । बहुत बड़ी बात है परमात्मा के साथ, अर्हत् के साथ तादात्म्य होना । जब तक अर्हत् की दशा का अनुभव करने का अभ्यास नहीं होता तब तक अनुभव नहीं जागता ।

आचारांग में कहा गया — जो परम को देख लेता है, वह उससे एकात्म हो जाता है ।

अनुभव जागरण के तीन सूत्र

अनुभव की जागृति के ये तीन साधन हैं—१. अकरण का संकल्प २. वैसा ही भाव और मन ३. परम आत्मा के साथ तादात्म्य ।

इस त्रिपदी से अनुभव जागता है—

अकरणस्य संकल्पः, भावो मनोऽपि तद्गतम् ।

परात्मना च तादात्म्यं, प्रस्फुटोऽनुभवस्तदा ॥

गुरु ने शिष्य से पूछा—क्या तूने तीनों का अभ्यास किया है ? शिष्य बोला—नहीं । मैंने केवल अकरण का संकल्प मात्र लिया है । वर्षों से उसे निभा रहा हूँ, पर अनुभव-शून्य हूँ ।

गुरु बोले—भाव शुद्धि के बिना कुछ नहीं हो सकता । यह नितांत आंतरिक पक्ष है । दूसरा व्यक्ति केवल बाह्य को पकड़ता है, पकड़ सकता है । अन्तर को वह जान नहीं सकता । व्यक्ति स्वयं ही उसे जान पाता है । भाव शुद्धि का प्रश्न नितांत वैयक्तिक है । कालसौकरिक बड़ा कसाई था । वह प्रतिदिन पांच सौ भैंसे मारता था । उसे कुएं में डाल दिया गया । माना गया कि वहां भैंसे कैसे मारेगा ? कुएं में भैंसे कहां ? कालसौकरिक के अकरण तो हो गया, पर मन में भाव हिंसा का चल रहा था । उसने मिट्टी के भैंसे बनाने प्रारम्भ किए और एक-एक कर पांच सौ भैंसे मार डाले । भावना से उसने अपना काम कर डाला । इसे कौन रोक सकता है ? सत्ता, राज्य और दंड की शक्ति भी वहां नाकामयाब होती है । सत्ता, राज्य और दंड की शक्ति शरीर पर काबू कर सकती है, भावना पर नहीं । यही तो लौकिक और अलौकिक, व्यावहारिक और आध्यात्मिक की भेदरेखा है । शरीर को रोका जा सके वह है लौकिक या व्यावहारिक ।

भावों पर नियंत्रण कर सके, वह है अलौकिक या आध्यात्मिक। धर्म या अध्यात्म के सिवाय कोई शक्ति भावों को नहीं बदल सकती, रोक नहीं सकती। यदि यह बात हृदयंगम हो जाए तो व्यक्ति धर्म और अध्यात्म का सही मूल्य आंक सकता है।

आज धर्म का मूल्य भी बाहरी बना दिया गया है, सारा मूल्यांकन व्यावहारिक बातों से होने लगा है कि वह कितनी सामायिक करता है? क्या-क्या उपासनाएं करता है? कौन कौन से क्रियाकांड करता है? आदि-आदि। ये सारे धर्म तक पहुंचने के माध्यम हैं पर मूल नहीं हैं। मूल है भावशुद्धि। यहीं से परिवर्तन प्रारंभ होता है।

तीसरा तत्त्व, जो अनुभव को जगाता है, वह है परमात्मा के साथ तादात्म्य जोड़ देना। प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का अपना इष्ट होता है, आदर्श होता है। उसके साथ तदात्म हो जाना, तन्मय हो जाना, यह अपेक्षित है।

‘अर्हम्’ का कोरा जप नहीं करना है। ‘णमो अरहंताणं’ बोलते समय अपने आपको अर्हत् के रूप में अनुभव करना है। यह है तदात्म होने की प्रक्रिया।

गुरु ने शिष्य से कहा—तुम ‘अकरण’ के साथ इन दोनों बातों—भावशुद्धि और इष्ट के साथ तादात्म्य को जोड़ दो। फिर देखो कि जो होना होता है, वह घटित होता है या नहीं? पूर्ण प्रक्रिया को जाने बिना, पूरी बात को समझे बिना कार्य होता नहीं है।

अधूरी बात

एक विद्यार्थी के पास दो पेंसिलें थीं—एक घरवाली और एक स्कूलवाली। वह दोनों पेंसिलें लाया था कक्षा में। एक गुम हो गई। वह कक्षा में उदास बैठा रहा। अध्यापक ने पूछा—‘अरे! उदास क्यों हो? क्या हो गया?’ विद्यार्थी ने कहा—‘सर! घरवाली खो गई।’ कक्षा के सारे विद्यार्थी हंस पड़े। अध्यापक भी हंसने लगा। वह बेचारा हैरान था कि इसमें हंसने जैसा क्या था। उसने कहा—‘सर! मेरी तो घरवाली खो गई और आप सब हंस रहे हैं?’ अध्यापक बोला—‘अरे! अभी तो तुम कुंआरे हो, घरवाली कहां से आ टपकी?’ उसने कहा—‘मेरी घरवाली पेंसिल खो गई है।’ बात स्पष्ट हो गई।

अधूरी बात से उपहास का पात्र बनना ही होता है।

धार्मिक लोग भी प्रक्रिया को पूर्ण नहीं करते। अधूरी प्रक्रिया कहीं नहीं पहुंचाती।

जिन व्यक्तियों ने इन तीनों सूत्रों का अध्यास किया है, उनका अनुभव जगा है

और आज भी जाग सकता है ।

भोग और त्याग—ये दो बातें हैं । भोग जितना लुभावना है, त्याग उतना लुभावना नहीं है । त्याग कहें या वैराग्य, एक ही बात है । भोग से त्याग या वैराग्य की ओर जाना इतना सरल नहीं है । इसमें वैचारिक द्वन्द्व भी है, दर्शन भी स्पष्ट नहीं है ।

योग : दो प्रक्रियाएं

साधना के क्षेत्र में दो प्रक्रियाएं हैं—राजयोग की प्रक्रिया और हठयोग की प्रक्रिया । दोनों भिन्न हैं । राजयोग प्रारंभ होता है वैराग्य से । चाहे पतंजलि का अष्टांग योग हो, चाहे जैनों का संवरयोग या तपोयोग हो और चाहे बौद्धों का शीलयोग—सभी का आधार वैराग्य है । इन सबमें कहा गया है कि जब तक साधक यम, नियम और शील की आराधना नहीं करता, त्याग की दिशा में जा नहीं सकता । हठयोग का पहला तत्त्व है आसन । वहां यम, नियम नहीं हैं, वैराग्य की बात नहीं है । इसमें यम, नियम को छोड़कर छह अंग माने गए हैं और राजयोग में आठ अंग । हठयोग के मार्ग में ही तंत्रयोग का विकास हुआ । यह मार्ग सर्वथा भिन्न हो गया । यह निश्चित है कि जिस साधना पद्धति के साथ वैराग्य की बात नहीं जुड़ती वह पद्धति बहुत काम की नहीं होती । उससे भोग की वृद्धि भी हो जाती है । वह मानसिक और भावनात्मक स्तर पर बहुत हानि पहुंचाती है । शारीरिक दृष्टि से भी हानि होती है ।

योग का मार्ग अध्यात्म का मार्ग है, पवित्र मार्ग है । इसमें अलौकिकता की बात समाविष्ट थी पर इसमें भी लौकिक बातों का समावेश हो गया है । इसको नितांत लौकिक बना दिया गया, शरीर पर अटका दिया गया । आज का 'योगा' सौन्दर्य और शारीरिक स्वास्थ्य तक सीमित हो गया । उसमें अध्यात्म की बात नहीं है । जब योग जैसी पवित्र वस्तु को इस भूमिका पर ला दिया गया तो फिर 'योगा' और 'अयोगा' में अन्तर ही क्या रहा ?

भोग क्या ?

आज सचमुच दृष्टिकोण को बदलने की जरूरत है । विजयघोष ने कहा—'केवल पदार्थ को ही मत छोड़ो । भोग केवल पदार्थ ही नहीं है ।' यह तथ्य धार्मिक लोगों को भी समझना है कि केवल पदार्थ को काम में लेना ही भोग नहीं है । पदार्थ को काम में लेना भोग है तो उसके प्रति भावना को जोड़ना भी भोग है और वैसा मन होना भी भोग है । ये सारी बातें भोग हैं । अभोग का अर्थ केवल 'अकरण' ही नहीं है । पदार्थ छोड़ दिया, भोगा नहीं, पदार्थ से दूर रहा—इतना ही अभिष्ट नहीं

है।

एक भीत पर मिट्टी के दो गोले फेंके गए। एक गोला गीला था और एक सूखा। जो गीला था, वह भीत पर चिपक गया और जो सूखा था, वह जमीन पर गिर गया। गीलेपन से लेप होता है, सूखेपन से नहीं। क्रियाएं दोनों में समान हैं, पर परिणाम में अन्तर है। जब भावशुद्धि होती है, अनासक्त भाव विकसित होता है तब लेप नहीं होता, गीलापन मिट जाता है।

द्रष्टा : अद्रष्टा

साधु और गृहस्थ में अन्तर कहां आता है? खाना, पीना, सोना, चलना आदि सारी क्रियाएं दोनों की समान हैं। इन क्रियाओं के आधार पर एक को ऊंचा और एक को नीचा नहीं माना जा सकता। भाव के स्तर पर ऊंचाई का बोध होता है। साधु खाता है, पर खाने का भाव दूसरा होता है गृहस्थ से। भाव को नहीं जोड़ेंगे तो ऊंचाई की बात नहीं लगेगी। भाव जोड़ने पर लगेगा कि कहां साधु और कहां गृहस्थ? कहां बिन्दु और कहां सिन्धु।

द्रष्टा और अद्रष्टा की क्रियाओं में रात-दिन का अन्तर होता है। जब अद्रष्टा द्रष्टा बनता है तब उसका चलना, बोलना, पहनना, खाना आदि सारी क्रियाएं बदल जाती हैं। वह 'अण्णहा णं पासह' का मूर्त रूप बन जाता है। जिसने आत्मा को नहीं देखा, उसके दृष्टि की भ्रान्ति मिटेगी नहीं। साधु वह होता है, जिसने आत्मा को देखा है। उसकी दृष्टि की भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। यह भूमिका-भेद है। इसी में भाव-विशुद्धि घटित होती है। यही है अनुभव की भूमिका। जब अनुभव जाग जाता है, तब उस व्यक्ति के लिए सारे शास्त्र कृतकृत्य हो जाते हैं। शास्त्र तब तक काम देते हैं जब तक अनुभव नहीं जागता। अनुभव जागते ही व्यक्ति आप्तपुरुष बन जाता है। यह आगम पुरुष की भूमिका है, यह अभोग की भूमिका है, अभ्रमण की भूमिका है। इस भूमिका का साधक अनुभव से तरबतर होता है और इस दिशा में निरंतर आगे बढ़ता जाता है।



संभोग से समाधि : कितना सच, कितना झूठ ?

ज्ञान और ध्यान भिन्न नहीं है। *चलं चित्तं ज्ञानं, स्थिरं चित्तं ध्यानम्*—चंचल चेत का नाम है 'ज्ञान' और स्थिर चित्त का नाम है 'ध्यान'।

पानी और बर्फ एक ही है। तरल जल को पानी और सघन जल को बर्फ कहा जाता है। जैसे तरल जल बर्फ बन जाता है, वैसे ही चंचल चित्त भी स्थिर अवस्था को प्राप्त कर ध्यान बन जाता है। जब तक हम ज्ञान की भूमिका को पार कर ध्यान की भूमिका में नहीं पहुंच जाते, तब तक स्व-अनुभव जैसा कुछ भी नहीं होता, केवल हम ऊपरी स्तर पर ही तैरते रहते हैं। यह स्थिति खतरों से खाली नहीं होती। जो सदा दूसरों के सहारे चलता है, ज्ञान के सहारे चलता है, उसे खतरा बना रहता है।

ध्यान स्व-अनुभव की स्थिति है। साधना का यह मूल आधार है। जितने रहस्य उद्घाटित हुए हैं, वे सब ध्यान-काल में ही हुए हैं। मन की एकाग्रता को साधकर ही वैज्ञानिक नये रहस्य प्रकट करता है और अध्यात्म-साधक भी मानसिक एकाग्रता के वरम-बिन्दु पर पहुंचकर ही नये रहस्य प्रकट करता है। ध्यान के बल पर भगवान् महावीर ने अनेक नये सत्य उद्घाटित किए। महात्मा बुद्ध ने ध्यान की साधना कर मध्यम प्रतिपदा का उपदेश दिया। जिन आचार्यों ने ध्यान की गहराई में जाकर देखा, उन्हें नये रहस्य प्राप्त हुए। अध्यात्म का मार्ग ध्यान की प्रस्तुति है।

इस युग में ध्यान-साधना अत्यन्त अपेक्षित है। कुछ लोग मानते हैं कि ध्यान-साधना योगियों के लिए, जंगल में रहने वालों के लिए ज़रूरी है, गृहस्थ के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं। ध्यान-साधना के परिणामों ने इस भ्रान्ति को तोड़ा। व्यक्ति-व्यक्ति को यह अनुभव हुआ है कि ध्यान के बिना जीवन स्वस्थ नहीं रह सकता। इसीलिए आज स्थान-स्थान पर ध्यान-केन्द्र चल रहे हैं। ऐसे सैकड़ों ध्यान-केन्द्र हैं, जहां हजारों व्यक्ति विभिन्न पद्धतियों से ध्यान की शिक्षा ले रहे हैं। ध्यान की परम्परा पुनः व्यापक हो रही है।

मर्यादा और शुद्धि

मैं मानता हूँ कि सीमित वस्तु ही विशुद्ध रह सकती है। गंगोत्री का पानी

जितना निर्मल है, उतना निर्मल गंगा का पानी नहीं है। जैसे-जैसे गंगा का विस्तार हुआ है, वैसे-वैसे इसमें मिश्रण होता गया है। ध्यान और योग-साधना की भी यही बात है।

आज ध्यान-केन्द्रों के अनेक मठाधीश हैं जो भगवान् बनकर पूजा प्राप्त कर रहे हैं। अनेक ध्यान-केन्द्रों में विशुद्ध ध्यान-साधना में मिलावट हो रही है। अभी-अभी अनेक पत्र-पत्रिकाओं में कुछेक आश्रमों की गतिविधियों के चित्र छपे हैं। यह सारी गंदगी ध्यान के नाम पर आ रही है, ऐसा ज्ञात हुआ। यदि यह कोई युवकों को पथभ्रष्ट करने वाली कथा होती तो भी मुझे नहीं अखरता। किन्तु यह सब हो रहा है 'समाधि' के नाम पर। समाधि ध्यान की अंतिम अवस्था है। उसको व्यर्थ साबित करने के लिए अथवा अपनी वासना को चरितार्थ करने के लिए, कुछ तथाकथित भगवान्, संभोग को समाधि के साथ जोड़ रहे हैं, या यों कहा जाए कि समाधि को संभोग के साथ जोड़ रहे हैं। प्राचीन आचार्यों ने साधना की जिन-जिन अवस्थाओं से गुजर कर समाधि को प्राप्त किया था, उन साधनों को आज वे नकार रहे हैं। वे आज के भगवान् संभोग से समाधि को प्राप्त करने की बात कह रहे हैं। समाधि-प्राप्ति का आज एकमात्र साधन है—संभोग। अध्यात्म की यह बड़ी-से-बड़ी विडम्बना है। इतिहास में ऐसी विडम्बना न पहले सुनी, न देखी।

सबसे बड़ा पाखण्ड

भारत में वाम-मार्ग की साधना बहुत पुरानी है। अनेक शताब्दियों तक तांत्रिक प्रयोग चले। मदिरा, मांस, मैथुन आदि पांच मकार चले। किसी अध्यात्मवादी ने उसका समर्थन नहीं किया। पहले उसकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त गुह्य रखी जाती थी। आज ऐसा कुछ भी नहीं है। अनेक योग आश्रमों में अश्लील प्रयोग करवाये जाते हैं, सामूहिक संभोग से समाधि अवस्था प्राप्त होने का आश्वासन दिया जा रहा है। ओह ! कितनी विडम्बना ! अध्यात्म के नाम पर इससे बड़ा पाखण्ड और क्या हो सकता है ?

जो व्यक्ति भारतीय संस्कृति की विकृति से परिचित नहीं है, अध्यात्म की पवित्र भावना से अनजान है, वे लोग इन सब बातों में फंस जाते हैं। किन्तु भारतीय लोग समाधि की पवित्रता से परिचित हैं, समाधि की शक्ति को जानते हैं, वे इस भुलावे में आकर इतनी घृणित प्रवृत्तियों में अपनी शक्ति का व्यय करना नहीं चाहेंगे।

मनुष्य में दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं—मौलिक और अर्जित। आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा—ये चार मौलिक वृत्तियां हैं। अध्यात्म के

आचार्य कहते हैं, जब तक ये मौलिक वृत्तियां नष्ट नहीं होती तब तक समाधि की रात तो दूर, व्यक्ति अध्यात्म की दिशा में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता ।

आज हमारे तथाकथित भगवान् इन वृत्तियों के भोग से समाधि प्राप्त करवाने का ढिंढोरा पीट रहे हैं । इससे बड़ा बुद्धि का दिवालियापन और क्या हो सकता है ? यदि भोग से ही समाधि प्राप्त हो जाती तो योग की बात व्यर्थ है । समाधि लक्ष्य है । योग उस लक्ष्य-सिद्धि का मार्ग है, साधन है । भोग इस मार्ग का बाधक है ।

तथाकथित भगवानों के शिविरों में साधना करने वाले अनेक साधकों से पूछा तो लगा कि वे आमोद-प्रमोद को ही ध्यान मानते हैं । यथार्थ ध्यान से वे दूर ही हैं ।

मैं किसी व्यक्ति विशेष की आलोचना करना नहीं चाहता । मेरा विरोध उन सबसे है, जो वाम-मार्ग को समाधि मार्ग मानते हैं और अध्यात्म के नाम पर वेडम्बना करते हैं । वे जिस डाल पर बैठे हैं, उसी पर कुठाराघात कर रहे हैं । कैसी मूर्खता !

ये भगवान् समाधि का लालच देकर अपने भक्तों को पथच्युत कर रहे हैं । इससे भगवानों का कुछ नहीं बिगड़ेगा, किन्तु भक्त का अधःपतन निश्चित है । इस प्रकार एक ध्यान-केन्द्र या योग आश्रम बदनाम होने पर, सारे ध्यान-केन्द्रों पर उसकी आंच आती है, यह सबसे खतरनाक स्थिति है ।

एक पुरानी बात है । एक गांव के लोग बहुत प्रामाणिक थे । कोई चोरी नहीं करता था । एक बार एक आदमी ने चोरी कर ली । सभी व्यक्तियों पर शंका होने लगी । यदि एक व्यक्ति चोरी कर सकता है तो दूसरा भी चोरी कर सकता है, तीसरा और चौथा भी चोरी कर सकता है ।

इसी प्रकार ध्यान आश्रमों के लिए भी आशंका की स्थिति बन सकती है । एक आश्रम में यदि यह अश्लीलता चलती है तो 'क' 'ख' के आश्रम में भी चल सकती है । यह संदेह ध्यान-आश्रमों पर कुठाराघात है ।

संयम के बिना सिद्धि नहीं

समाधि की प्राप्ति एक अद्भुत घटना है । वृत्तियों पर नियन्त्रण किए बिना समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती । जो व्यक्ति 'काम-वासना' पर नियन्त्रण नहीं रखता, वह ध्यान की गहराई में नहीं जा सकता ।

मनोविज्ञान का सूत्र है—इच्छाओं का दमन मत करो । यह एक तथ्य है, सचाई है । किन्तु हमें इसका अर्थ सही रूप में समझना होगा । इसका अर्थ यह नहीं है कि

व्यक्ति मर्यादा का उल्लंघन कर भोग भोगे। पश्चिमी समाज ने मनोविज्ञान के सूत्र का यह अर्थ निकाला कि मनुष्य अमर्यादित भोग भोगे। आज वह समाज कामगिन में झुलस रहा है। उच्छृंखलता से वह पीड़ित है। उसका समाधान पाने के लिए वे अध्यात्म की शरण में जा रहे हैं। वे अध्यात्म की खोज कर रहे हैं। इसके लिए वे भारत आ रहे हैं। यदि यहां के भगवान् उनके समक्ष वही भोग भोगने का मार्ग रखते हैं तो वे बेचारे कितने हताश होते हैं। कैसी विडंबना ! यदि यहां के योग-आश्रमों में भोग का, आमोद-प्रमोद का वातावरण ही बना रहेगा और संभोग से समाधि पर बल दिया जाता रहेगा तो भारतीय प्रणाली पर यह एक अमिट कलंक बन जाएगा।

प्रत्येक व्यक्ति में काम, भय, लोभ आदि वृत्तियां होती हैं, संज्ञाएं होती हैं। युवावस्था में ये वृत्तियां उभरती हैं। यदि भोग के आचार्य इन वृत्तियों को भोगने की बात कहते हैं तो उन वृत्तियों को उग्र होने का सहारा मिल जाता है और युवावर्ग को मार्ग-च्युत होने में सहयोग प्राप्त हो जाता है। मार्क्स ने कहा था, 'साम्यवाद पर विश्वास रखने से समूचा राष्ट्र एक परिवार बन जाएगा। कोई पति नहीं, कोई पत्नी नहीं, कोई पुत्र नहीं।' मार्क्स की यह भविष्यवाणी अत्यन्त असत्य सिद्ध हुई है। कई देशों में साम्यवाद की स्थापना हुई, किन्तु आज भी वहां वंश-परम्परा है। पिता है, पुत्र है, पति है, पत्नी है। पारिवारिक व्यवस्था है। मार्क्स की बात असत्य सिद्ध हुई किन्तु आज के भगवान् भारत की पवित्र भूमि पर असत्य को सिद्ध करने में जुटे हुए हैं। वे कहते हैं, 'भिन्न-भिन्न कुटुम्बों की कोई आवश्यकता नहीं है।' इसी चिन्तन से 'संभोग से समाधि' का जन्म हुआ। उच्छृंखल यौनाचार को प्रस्थापित करने का उन भगवानों ने प्रयत्न किया। उनका यह प्रयत्न प्राचीन वाम-मार्ग को भी भुला देता है।

मैंने जिस समस्या की ओर अंगुलि-निर्देश दिया है, वह मेरे अकेले की समस्या नहीं है, सबकी समस्या है। अध्यात्म में विश्वास रखने वाले सभी लोग आज की इस यौनाचार की स्थिति से चिंतित हैं। वे चाहते हैं कि किसी भी कीमत पर अध्यात्म की शुद्धता और पवित्रता को बनाए रखना है।

ध्यान अमूल्य निधि है। इससे ही रूपान्तरण हो सकता है। 'काम' का दमन नहीं, उसका उदात्तीकरण होना चाहिए। ध्यान से यह प्रक्रिया हो सकती है। काम के सेवन से काम मिटता नहीं, उभरता है। इसके रूपान्तरण से प्राप्त होने वाली ऊर्जा से असामान्य कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।

ध्यान महान् शक्ति है। शक्ति के दो प्रयोजन होते हैं—तारना और मारना। जो शक्ति तार सकती है, वह मार भी सकती है। ध्यान से व्यक्तित्व का विकास भी हो सकता है और ह्रास भी हो सकता है। महावीर ने कहा 'जब चेतना आर्त और रौद्र ध्यान में उतर आती है तब व्यक्ति का ह्रास घटित होता है और जब वही चेतना धर्म और शुक्ल ध्यान में उतर आती है तब व्यक्ति का विकास घटित होता है।'

ध्यान के दोनों मार्ग हमारे सामने हैं। हमें कौन-सा रास्ता अपनाना है, यह हमारी रुचि पर निर्भर करता है। ध्यान के नाम पर चलने वाले अकार्य से सतत सावधान रहना—यह पहली आवश्यकता है।



चिर यौवन का रहस्य

मनुष्य की शाश्वत कामना है—‘जीवेम शरदः शतम्—मैं सौ वर्ष तक जीता हूँ।’ प्राचीनकाल में जीवन की सामान्य सीमा थी सौ वर्षों की। प्राचीन आचार्यों ने इस सीमा को दस अवस्थाओं में बांटा है। जीवन की दस अवस्थाएँ हैं। आदमी जन्म लेता है। बच्चा होता है, युवा बनता है, बूढ़ा होता है और फिर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। बच्चा होना कोई चाहता नहीं। यह चाह का विषय नहीं है। यह प्रश्न नेयति का है। तीन अवस्थाएँ हैं—बचपन, यौवन और वृद्धत्व। बचपन चाह का विषय नहीं है, बच्चा युवा होना चाहता है। यौवन चाह का विषय है। युवा बूढ़ा बनना नहीं चाहता। वृद्धत्व चाह का विषय नहीं है। बूढ़ा न होने के लिए आदमी ने बहुत प्रयत्न किए हैं। अनेक औषधियों और पद्धतियों का आविष्कार कर यह पूरा प्रयत्न किया गया कि आदमी बूढ़ा न बने। आयुर्वेद ने कायाकल्प की पद्धति वलायी जिससे कि आदमी चिर युवा रह सके, बूढ़ा भी युवक बन जाए। आदमी बूढ़ा इसलिए होता है कि उसके शरीर की कोशिकाएँ नष्ट अधिक होती हैं, नयी कोशिकाओं का निर्माण नहीं होता। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से जो आदमी शक्ति का व्यय कम करता है, ऊर्जा को कम खर्च करता है, नयी कोशिकाओं को निर्मित होने का अवकाश देता है, वह बूढ़ा नहीं होता, जल्दी बूढ़ा नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य सदा युवा रहना चाहता है। प्रेक्षा-ध्यान को हम इस दृष्टि से देखें कि उससे चिर यौवन को सुरक्षित रख जा सकता है। उसे स्थायी बनाया जा सकता है। आगमकार कहते हैं कि देवता कभी बूढ़े नहीं होते। वे सदा मध्यम वय में ही रहते हैं। तीर्थंकर युवावस्था में ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। संभवतः व्याख्याकारों ने यह मान लिया कि मध्यम आयु में ही तीर्थंकरों को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इसका सीधा अर्थ है कि तीर्थंकर कभी बूढ़े नहीं होते। जो सिद्धयोगी होते हैं वे कभी बूढ़े नहीं होते। कोई भी वीतराग व्यक्ति बूढ़ा कैसे होगा? बुढ़ापा लाने वाली सारी स्थितियाँ वहाँ समाप्त हो जाती हैं। इसलिए वीतराग, केवली या तीर्थंकर कभी बूढ़े नहीं होते।

युवक कौन ? बूढ़ा कौन ?—एक वैज्ञानिक विश्लेषण

युवक और यौवन् की अनेक परिभाषाएं की गयीं । मैं उनके विश्लेषण में नहीं जाऊंगा । मुझे केवल प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में युवा को समझना है, बूढ़े को समझना है । युवा कौन होता है ? बूढ़ा कौन होता है ? यौवन क्या है ? बुढ़ापा क्या है ? मैं इन प्रश्नों की चर्चा आयुर्विज्ञान और मानव-शास्त्र के संदर्भ में करना चाहूंगा । शरीरशास्त्र का कथन है कि मस्तिष्क की कोशिकाएं जब कठोर बन जाती हैं तब आदमी बूढ़ा बनता है । बुढ़ापे का लक्षण है मस्तिष्क की कोशिकाओं का समाप्त हो जाना, उनका लचीलापन मिट जाना, उनका कठोर हो जाना । कठोरता में क्षमता कम हो जाती है । उससे आदमी बूढ़ा बन जाता है । वह बूढ़ा ही नहीं बनता, उसकी सहिष्णुता भी कम हो जाती है, परिस्थितियों को झेलने की क्षमता न्यून हो जाती है, संतुलन कम हो जाता है । यह व्यवहार का अनुभव है कि बूढ़ा आदमी चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है । उसे क्रोध अधिक आता है, शीघ्र आता है । वह किसी बात को सहन ही नहीं कर सकता । बात-बात में अधीरता परिलक्षित होने लगती है । यह उस व्यक्ति का दोष नहीं है । यह तो मस्तिष्कीय मज्जा की कठोरता का परिणाम है ।

एक शब्द में बूढ़ा वह होता है जिसकी मस्तिष्कीय मज्जा कठोर हो जाती है । युवा वह होता है जिसकी मस्तिष्कीय मज्जा में लचीलापन है, आर्द्रता है ।

प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया से मस्तिष्कीय मज्जा को लचीला बनाए रखा जा सकता है, उसको गीला बनाए रखा जा सकता है । जो व्यक्ति शरीर और चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा करता है, गहराई में उतरकर उनके अणु-अणु को देखने का प्रयत्न करता है, तो उसकी इस गहरी प्रेक्षा से रक्त और प्राण-शक्ति का इतना संचार होता है कि मज्जा में कठोरता नहीं आती । वह वैसी की वैसी तरल और आर्द्र बनी रहती है । यह आर्द्रता आदमी को केवल बूढ़े होने से ही नहीं बचाती, वह उसके चिड़-चिड़ेपन, असंतुलन और उत्तेजना को भी समाप्त कर देती है ।

बूढ़ा वह होता है जिसकी रीढ़ की हड्डी विकृत और कठोर हो जाती है । युवा वह होता है जिसकी रीढ़ की हड्डी लचीली रहती है । आगम के व्याख्याकारों ने बताया कि आदमी चालीस वर्ष तक युवा होता है और सत्तर वर्ष तक प्रौढ़ रहता है । यह मध्यम वय है । उसके बाद क्षीणता आती है और आदमी बूढ़ा होता जाता है । आयुर्विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान में यह कथन उचित है । किन्तु ध्यान-विज्ञान में यह नियम लागू नहीं होता । जो व्यक्ति पवन-मुक्तासन, धनुरासन,

पश्चिमोत्तानासन आदि रीढ़ को लचीला बनाने वाले आसन करता है, शक्ति-केन्द्र से ज्ञान-केन्द्र और ज्ञान-केन्द्र से शक्ति-केन्द्र तक मन की अन्तर्यात्रा करता है, सुषुम्णा मार्ग से प्राण-धारा को प्रवाहित करता है, वह चाहे ८० वर्ष का हो या ९० वर्ष का हो, कभी बूढ़ा नहीं हो सकता। वह पूरे सौ वर्ष पार कर ले, फिर भी बूढ़ा नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी का लचीलापन बना रहता है। वह युवा ही है।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग रीढ़ की हड्डी को स्वस्थ और लचीली रखने का अचूक उपाय है।

युवा वह होता है जिसका मस्तिष्क तनाव से मुक्त रहता है। जो मस्तिष्कीय तनाव से मुक्त है, उसकी आयु कितनी भी क्यों न हो, वह युवा है और जो मस्तिष्कीय तनाव से ग्रस्त है, उसकी आयु चाहे ४०-५० ही क्यों न हो, वह बूढ़ा है। तनाव बुढ़ापा लाता है। तनावमुक्ति बुढ़ापे से मुक्ति दिलाती है। शारीरिक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव—ये तीनों प्रकार के तनाव कोशिकाओं में कठोरता पैदा करते हैं और यह कठोरता बुढ़ापे का मूल कारण है। जो व्यक्ति ध्यान का अभ्यास नहीं करता वह तनाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। कुछेक लोग तनाव-मुक्ति के लिए विभिन्न औषधियों का सेवन करते हैं। लगता है कि कुछ घंटों के लिए उनका तनाव शिथिल हो गया है, पर वे औषधियाँ और अधिक हानि करती हैं, उसके बहुत बुरे परिणाम आते हैं। तनाव को मिटाने का उपाय है—अपनी जटिल आदतों को बदलना, कषायों को कम करना, आवेगों को शान्त करना। यह सारा ध्यान से ही सम्भव हो सकता है।

धर्मगुरु समझाते रहे हैं कि क्रोध मत करो, क्योंकि उससे नरक मिलता है। आज का बुद्धिवादी युवक नरक के भय से किसी बात को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। क्रोध करने से नरक मिलता हो तो भले ही मिले, किन्तु यदि मुझे उससे सुख की अनुभूति होती है तो वह करणीय है त्याज्य नहीं है। आज के आदमी में नरक का भय नहीं रहा। किन्तु यदि आज के आदमी को बताया जाए कि क्रोध से तनाव बढ़ता है, बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, कैंसर होता है, अल्सर होता है, नाना प्रकार के मनोकायिक रोग होते हैं, तो वह क्रोध को छोड़ने की बात सोच सकता है। क्रोध न करने का प्रश्न केवल परलोक से संबंधित नहीं है, वह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से संबंधित है। यदि यह बात समझाई जाती है तो हर व्यक्ति उस पर ध्यान दे सकता है। तनावग्रस्त व्यक्ति असमय में बूढ़ा बन जाता है।

प्रेक्षा-ध्यान एक प्रयोग है तनावमुक्ति का। तनाव निरुत्साह पैदा करता है। निरुत्साही व्यक्ति बूढ़ा होता है। युवा वह होता है जो उत्साह को कभी नहीं खोता।

आचार्य भिक्षु से पूछा—‘प्रमाद का अर्थ क्या है?’ उन्होंने कहा—‘धर्म के प्रति अनुत्साह’। फिर पूछा—‘अप्रमाद का अर्थ क्या है?’ उन्होंने कहा—‘धर्म के प्रति उत्साह’।

हम एक परिभाषा बनाएं। युवा वह होता है जो अप्रमत्त होता है। बूढ़ा वह होता है जो प्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होगा उसमें धर्म का उत्साह होगा, अपने अस्तित्व के प्रति उत्साह होगा, अपने चैतन्य के जागरण के प्रति उत्साह होगा। बूढ़ा वह होता है जिसका उत्साह मर जाता है, जिसका धर्म या अपने अस्तित्व के प्रति उत्साह मर जाता है। बूढ़ा वह होता है जिसके चैतन्य की लौ बुझ जाती है। यौवन का कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता।

भावक्रिया : विकास का आदि-बिन्दु

प्रेक्षा-ध्यान एक प्रक्रिया है अप्रमाद के विकास की, चैतन्य के जागरण की। जिस व्यक्ति ने भावक्रिया का थोड़ा-सा भी अभ्यास किया है, वह व्यक्ति अप्रमत्त रहने का अभ्यासी कहा जा सकता है। यदि हम गहरे में जाएं, दर्शन की बहुत सारी गुत्थियों को सुलझाने बैठें तो यह लगेगा कि भावक्रिया ने मनुष्य के विकास में बहुत बड़ा योग दिया है। भावक्रिया ने ही प्राणी को निगोद (वनस्पति) से मनुष्य की अवस्था तक पहुंचाया है। निगोद विकास का आदि-बिन्दु है और मनुष्य अवस्था विकास का चरम-बिन्दु है। निगोद प्राणियों का अक्षय कोष है। वहीं से सारा विकास प्रारंभ होता है। मनुष्य का जीव जब उस निगोद में था तब एककोशीय प्राणी के रूप में था। कोई संकल्प जागा, भावक्रिया होती रही, अल्प-विकसित चेतना को विकसित होने का योग मिलता रहा। वह चलते-चलते चेतना-विकास का चरम-बिन्दु मनुष्य अवस्था तक पहुँच गया। अमनस्क अवस्था से समनस्क अवस्था तक पहुँच गया। उसमें इन्द्रिय चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक चेतना विकसित हुई। विवेक चेतना जागी। यह सब भावक्रिया से ही सम्भव हो सका है।

क्रियेटिव इवोल्यूसन

यूनान के दार्शनिकों ने ‘क्रियेटिव इवोल्यूसन’ (Creative evolution) पर बहुत विचार किया है। उनका कहना है कि मनुष्य का जो जैविक विकास-क्रम है वह सारा एक संकल्प के द्वारा हुआ है। यदि हम भावक्रिया को ठीक समझ लें तो

उस सृजनात्मक विकास की व्याख्या को समझ सकते हैं। भावक्रिया के बिना, निरन्तर संकल्प की प्रेरणा के बिना कोई भी प्राणी अविास से विकास की दशा तक नहीं पहुंच सकता। यह प्रेक्षा का प्रयोग अप्रमाद या सतत जागरूकता का प्रयोग है। यह चैतन्य की दीपशिखा को निरन्तर प्रज्वलित रखने का प्रयोग है। इस प्रयोग के द्वारा मनुष्य सदा युवा रह सकता है। जो अप्रमत्त रहता है वह सदा युवा बना रहता है। जो प्रमत्त होता है वह बूढ़ा बन जाता है। बूढ़ा वह होता है जो झपकियां ज्यादा लेता है। युवा झपकियां नहीं लेता। बूढ़ा वह होता है जो अतीत की स्मृतियों में खोया रहता है। युवा वह होता है जो वर्तमान में रहता है। बूढ़ा आदमी निरन्तर अतीत की यादों में रस लेता रहता है। उसे वर्तमान अच्छा ही नहीं लगता। वह अतीत के गुण गाता है, अपने अतीत को याद कर खिल उठता है। वह स्मृतियों के कगार पर खड़ा होता है और स्मृतियों की बैसाखी के सहारे चलता रहता है। युवा अतीत को समझता है पर जीता है वर्तमान को। वह वर्तमान पर चलता है, खड़ा होता है और उसे जानता-समझता है। वह अतीत की बातों में कभी नहीं उलझता। वह उलझेगा भी क्यों? उसका अतीत है ही क्या? एक बूढ़े व्यक्ति का अतीत ८० वर्ष का है और एक युवा व्यक्ति का अतीत २०-२५ वर्ष का है। वह युवा क्या स्मृति करेगा और कौन से अतीत की प्रशंसा करेगा? उसे रस ही नहीं आएगा। जो केवल अतीत के गीत गाता है वह चालीस वर्ष का युवा भी बूढ़ा है और जो वर्तमान को पकड़कर चलता है वह अस्सी वर्ष का बूढ़ा भी युवा है। जो पुराने के नाम पर जहर पीने को तैयार रहता है और नये के नाम पर अमृत को भी ठुकरा देता है, जिसमें पुरानेपन का इतना मोह और अनुराग हो जाता है, भूतकाल पर इतनी श्रद्धा हो जाती है, वह चाहे कितनी ही कम उम्र का हो, है बूढ़ा ही। बूढ़े को या युवा को अवस्था के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

प्रेक्षा है वर्तमान में जीना

प्रेक्षा-ध्यान का एक महत्वपूर्ण सूत्र है—वर्तमान में जीना। वह वर्तमान में देखना सिखाता है। वह कहता है—शरीर-प्रेक्षा करो। वर्तमान में शरीर में क्या-क्या घटित हो रहा है उसे देखो। कौन-सा पर्याय चल रहा है? कौन-सा पर्याय नष्ट हो रहा है? कौन-सा पर्याय उत्पन्न हो रहा है? क्या-क्या जैविक और रासायनिक परिवर्तन हो रहा है? हृदय का संचालन कैसे हो रहा है? शरीर के रसायन और विद्युत्-प्रवाह किस प्रकार के हो रहे हैं? इन सारी घटनाओं को शरीर में देखना। जो इन सारी घटनाओं को देखता है वह वर्तमान को देखता है और जो वर्तमान को

देखता है वह कभी बूढ़ा नहीं होता। प्रेक्षा-ध्यान का अर्थ है—वर्तमान में जीना, वर्तमान को देखना। अतीत में जीना और न भविष्य में जीना, केवल वर्तमान में जीना। जो वर्तमान में जीता है, जिसने वर्तमान को पकड़ रखा है, वह कभी बूढ़ा नहीं होता। सबसे कठिन है वर्तमान को पकड़ पाना। जिसने वर्तमान को पकड़ लिया, उसने सचमुच महान् सत्य को पा लिया।

साइप्रस में काल देवता की एक मूर्ति बनी। वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। उस मूर्ति के अगले भाग में सघन केश दिखाये गए हैं और पीछे के भाग में वह मुंड है, एक भी केश नहीं है। वह मूर्ति काल—समय का वास्तविक ज्ञान कराती है। समय सामने से आता है। वर्तमान आता है। जिसने उसको आगे से पकड़ लिया, वह जीत गया। पीछे से उसे पकड़ा नहीं जा सकता। अतीत व्यर्थ है। उसे नहीं पकड़ा जा सकता।

वर्तमान ही यथार्थ है। अतीत बीत चुका। वह अयथार्थ हो गया। भविष्य प्राप्त नहीं है। वह भी अयथार्थ है। वर्तमान को पकड़ना, समझना ही सत्य को पकड़ना है, समझना है।

पटुता का तारतम्य

प्रेक्षा-ध्यान वर्तमान में जीना सिखाता है। वर्तमान में शरीर में जो कुछ घटित होता है, जो चंचलता हो रही है या जिन कारणों से चंचलता हो रही है, उनको देखना ही प्रेक्षा-ध्यान है। शरीर की संरचना बहुत ही जटिल और सूक्ष्म है। एक-एक सेल की संरचना भी बहुत सूक्ष्म है। दस दिन के अभ्यास मात्र से शरीर को पूरा नहीं समझा जा सकता। लम्बे अभ्यास से ही हम उससे कुछ परिचित हो सकते हैं। साधकों में देखने-पकड़ने की तरतमता होती है। एक प्रश्न कई बार सामने आता है कि शिविरों में वे लोग भी आते हैं जो पहली बार प्रेक्षा का अभ्यास करने के इच्छुक हैं और वे लोग भी आते हैं जिन्होंने लम्बे समय तक प्रेक्षा का अभ्यास कर लिया है। दोनों में संगति कैसे हो सकती है? यह कोई जटिल समस्या नहीं है। जो व्यक्ति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सूक्ष्मताओं को जानता है, वह ऐसे प्रश्नों में नहीं उलझता। वह जानता है कि एक व्यक्ति के ज्ञान में और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में अनन्त गुना तारतम्य होता है। सबका पाटव या कौशल एक समान नहीं होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति में विसदृश होता है। आज जो एक व्यक्ति प्रेक्षा का अभ्यास प्रारंभ करता है वह बहुत स्थूल पर्यायों को ही पकड़ पाता है। जिस व्यक्ति ने बहुत बार अभ्यास कर लिया वह आगे से आगे इतनी सूक्ष्मताओं को

पकड़ लेता है, उसमें इतनी पटुता आ जाती है कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती। एक कहानी है। कहानी ही नहीं एक मार्मिक बात है जो व्यक्ति की पटुता का तारतम्य स्पष्ट करती है।

एक विदेशी राजा ने भारत पर आक्रमण करना चाहा। उसने सोचा कि आक्रमण करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि उस राजा के पास कोई बुद्धिमान व्यक्ति है या नहीं? कोई अनुभवी या वृद्ध व्यक्ति है या नहीं?

बूढ़े व्यक्ति का बहुत महत्त्व होता है। यह मत मानिए कि बूढ़े का कोई महत्त्व नहीं है। बहुत महत्त्व है बूढ़े व्यक्ति का। हमारे यहां एक उक्ति प्रचलित है—‘साठी बुद्धि नाठी’—साठ वर्ष का हुआ और बुद्धि नष्ट हो गई। यह उक्ति भी आज भ्रान्ति सिद्ध हो गई है। पश्चिमी जर्मनी के दो मनोवैज्ञानिकों ने हजारों व्यक्तियों पर परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि साठ वर्ष के बाद ही मनुष्य का वास्तविक जीवन शुरू होता है। बौद्धिक क्षमता का पूरा विकास उसी अवस्था में होता है। साठ वर्ष के बाद ही स्वास्थ्य का पूरा विकास होता है। कार्यजा-शक्ति भी उसी समय विकसित होती है। साठ वर्ष के पहले मनुष्य का अनुभव इतना परिपक्व नहीं होता। साठ वर्ष के बाद ही उसमें परिपक्वता आती है। उनकी इस घोषणा ने ‘साठी बुद्धि नाठी’ को सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर डाला। बूढ़ा आदमी सर्वथा व्यर्थ नहीं होता। अनुभव और बौद्धिक परिपक्वता की दृष्टि से बूढ़े व्यक्ति का बड़ा मूल्य है। जहां भी अनुभव के आधार पर निर्णय लेने का प्रश्न आता है वहां बूढ़ा आदमी खोजा जाता है। न केवल मनुष्यों में किन्तु पशु-पक्षियों में भी बूढ़े आदमियों के अनुभवपरक घटनाक्रम भी प्रचलित हैं।

उस विदेशी राजा ने सुरमे की एक डिबिया देकर एक दूत भेजा। उस डिबिया में दो आंखों में आंजा जाए, इतना-सा सुरमा था। वह सुरमा अंधे को आंख देने में समर्थ था। दूत आया। राजा ने दूत का स्वागत किया। दूत ने कहा—‘इस डिबिया में दो आंखों में आंजे, इतना-सा सुरमा है। हमें इसकी अधिक आवश्यकता है। आपके पास हो तो हमें दें। या इस सुरमे के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसा ही सुरमा बना सके तो हम उस आदमी को अपने साथ ले जाना चाहेंगे।’ राजा ने सुना। मंत्रियों से सलाह ली। किन्तु ऐसा सुरमा कौन बना सके? किसी की बुद्धि में समाधान नहीं आया। राजा ने सोचा— मेरा एक बूढ़ा मंत्री था, जो अभी सेवा-निवृत्त हुआ है, उसे बुलाकर पूछा जाए। राजा ने उसे बुला भेजा। वह अंधा हो गया था। वह आया। राजा ने सारी बात कही। अन्त में कहा—‘इस सुरमे से तुम अपनी आंखें खोल लो। आंखों

से दीखने पर जीवन सुखद रूप से कट जाएगा ।' मंत्री अनुभवी था । उसने डिब्बिया ली । एक आंख में सुरमा आंजा । कुछ ही क्षणों बाद उसकी एक आंख प्रकाशित हो गई । उसको दीखने लगा । जो शेष सुरमा बचा था, उसने अपनी दूसरी आंख में नहीं आंजा, किन्तु जीभ पर रख लिया । स्वाद से उसने सुरमे के सारे द्रव्यों का विश्लेषण कर लिया । घर जाकर वैसा ही सुरमा बनाया । परीक्षण के लिए अपनी दूसरी आंख में उसे आंजा । आंख खुल गई । वह सूझता हो गया । न वह अंधा रहा और न काना । उसने शेष सुरमा डिब्बिया में भरकर दूत से कहा—'जाओ, अपने सम्राट से कहना कि उन्हें ऐसा सुरमा जितना चाहे यहां से मंगा ले ।' दूत गया । सम्राट् को सारा वृत्तान्त सुनाया । सम्राट् ने सोचा—जिस देश में ऐसे अनुभवी और वृद्ध रहते हैं, इतने बुद्धिमान मंत्री हैं, उस देश पर आक्रमण करना भयंकर भूल होगी । उसका इरादा बदल गया ।

यह पटुता का तारतम्य होता है । एक ही दिन के अभ्यास से इतनी पटुता आ नहीं सकती । वह धीरे-धीरे विकसित होती है । जो व्यक्ति पटुता को उपलब्ध हो जाते हैं वे बिना यंत्र के रासायनिक विश्लेषण कर सारे रासायनिक द्रव्यों को जान लेते हैं ।

शरीर रसायनों का आकार

सुरमे में तो गिनती के द्रव्य हो सकते हैं । उनको सहजतया कुछ अभ्यास से जाना जा सकता है । किन्तु शरीर में अनगिन रसायन हैं । अनेक वैज्ञानिकों ने खोज के बाद बताया कि व्यक्ति जो सोचता है, चिन्तन करता है, उसके रसायन सारे शरीर में जमा हो जाते हैं । एक नख में पचास प्रकार के रसायन हैं । हमारे एक बाल में सैकड़ों प्रकार के रसायन हैं । सिर का एक बाल पूरे व्यक्तित्व की व्याख्या करने में पर्याप्त है । एक बाल के आधार पर व्यक्ति के अतीत को जाना जा सकता है, वर्तमान और भविष्य को जाना जा सकता है । उसके आधार पर मनुष्य के स्वभाव और चरित्र को जाना जा सकता है । एक शब्द में कहा जा सकता है कि एक बाल में वे सारे रसायन होते हैं जो व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देते हैं । सारा शरीर रसायनों से भरा पड़ा है । दस, बीस या पचास दिन की शरीर प्रेक्षा से उन सब रसायनों को नहीं जाना जा सकता । निरन्तर प्रेक्षा करने से ही उनसे परिचित हो सकते हैं । निरन्तर प्रेक्षा करते हुए हम यह सोचें कि सूक्ष्म पर्यायों को पकड़ने की क्षमता कितनी विकसित हो रही है ? सूक्ष्म सत्य कितने हस्तगत हो रहे हैं ? जो व्यक्ति जितना ज्यादा वर्तमान में जीता है वह उतना ही पटु होता जाता है, कुशल होता जाता है ।

बूढ़ा वह होता है जो परिस्थितियों से प्रताड़ित होता है। युवा वह होता है जो परिस्थितियों से प्रताड़ित नहीं होता।

प्रतिस्रोत : भीड़-रहित मार्ग

प्रेक्षा-ध्यान एक यात्रा-पथ है। यह प्रतिस्रोत में चलने का मार्ग है। भगवान् महावीर ने साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—‘*पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं*’—जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, उसे प्रतिस्रोतगामी बनना होगा। हमारे सामने दो मार्ग हैं। एक मार्ग है अनुस्रोत का और एक मार्ग है प्रतिस्रोत का। एक वह मार्ग है जिस पर सारी भीड़ चल रही है, सारी दुनिया चल रही है। एक मार्ग वह है जिस पर संसार के विमुख कुछेक व्यक्ति चल रहे हैं। वह भीड़-रहित मार्ग है। एक वे लोग हैं जो वर्तमान के स्रोत के साथ चल रहे हैं। दूसरे वे लोग हैं जो स्रोत के साथ नहीं चलते, स्रोत के प्रतिकूल चलते हैं। आज का स्रोत है—आनन्द से जीओ। सुख-सुविधाओं का अधिक से अधिक भोग करते हुए जीओ। पदार्थों को भोगो। जब पास में धन है तो उसको ऐश-आराम में खर्चो और उसका भोग करो। वे धन का यही उपयोग समझते हैं। आज का पिता चिंतित है कि उसकी संतान सच्चरित्र कैसे रह सकती है? आज युवकों के सामने इतने प्रलोभन हैं, इतने लुभावने वातावरण हैं कि वे अपने चरित्र की सुरक्षा नहीं कर सकते। जब चरित्र नष्ट हो जाता है। तब व्यापारिक समस्याएं उभरती हैं, व्यावसायिक उलझनें आती हैं, पारिवारिक संगठन टूटने लगते हैं। सारे लोग इस चिन्ता से ग्रस्त हैं। किन्तु आज का युवक प्रतिस्रोत में चलना नहीं चाहता। उसके अपने तर्क हैं। वह सिगरेट पीता है इस तर्क के साथ कि जब पांच-सात मित्र पीते हैं तो मैं कैसे न पीऊँ? वह मदीरा पीता है। तो इस तर्क के साथ कि मेरे मित्रों की पूरी गोष्ठी मदिरापान करती है तो मेरे पीने में क्या दोष? वह सोसायटी के साथ चलता है। वह सोसायटी से अलग नहीं रहना चाहता। इसीलिए आज सारी वर्जनाएं समाप्त हो रही हैं। प्राचीन समाज की जितनी वर्जनाएं थीं, जितने निषेध थे, वे आज चल नहीं सकते। जो आचार-संहिता थी, वह आज व्यर्थ प्रमाणित हो रही है क्योंकि आज का समाज बहुत संक्रमणशील हो गया है। दुनिया छोटी हो गयी है। आज कोई अवरोध नहीं रहा। प्राचीनकाल में भारतीय समाज में यह वर्जना थी कि कोई भी भारतीय समुद्र से पार न जाए। आज वे सारी वर्जनाएं समाप्त हो चुकी हैं। पहले अन्तर्जातीय विवाह नहीं होता था। आज यह सीमा भी समाप्त हो चुकी है। आज समाज में कोई निश्चित वर्जनाएं नहीं हैं। कोई कुछ करता है और कोई कुछ।

इतना संक्रमण हो गया कि सारी सीमाएं विलीन हो गयीं। जितने बेरियर थे वे सारे टूट गए। ऐसे संक्रमणशील समाज में जीने वाला युवक कौन-सा आचार का पालन करे? किन् वेंजनाओं को मान्यता दे? कठिन समस्या है। इस समस्या का हल यह है कि यदि उसमें प्रतिस्त्रोत में चलने की भावना जागे तो वह अनेक अनैतिकताओं से बच सकता है अन्यथा नहीं।

प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा प्रतिस्त्रोतगामिता का भाव पैदा होता है। आदमी हमेशा आंख खोलकर देखता है। यदि वह आंख मूंदकर देखने का अभ्यास करे तो उसमें प्रतिस्त्रोत की वृत्ति पैदा होती है। जब आदमी बाहरी संगीत को छोड़कर भीरती संगीत को, नाद को सुनने का प्रयास करता है तो उसमें प्रतिस्त्रोत की भावना जागृत होती है। आदमी दूसरों को देखने में रस लेता है। जहां कही जायेगा वह दूसरों को ही देखेगा। धर्म-स्थान में आने वाले भी दूसरों को अधिक देखते हैं वे साधुओं के छिद्र देखने में बड़ा रस लेते हैं। धर्म-स्थान आत्म-निरीक्षण का स्थान होता है। वहां भी आदमी पर-निरीक्षण करता है। कैसी विडम्बना! निरन्तर दूसरों को देखने के कारण आदमी की दृष्टि ऐसी बन गयी कि वह अपने आपको देखना ही भूल गया। यह है दीये तले अंधेरा। आदमी भूल ही गया कि उसे अपने आपको भी देखना चाहिए। प्रेक्षा-ध्यान अपने आपको देखने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रतिस्त्रोत की चेतना का निर्माण करती है जिससे यह फलित होता है कि दूसरों को देखना बंद करें और स्वयं को देखें। हम बार-बार यह दोहराते हैं— 'स्वयं स्वयं को देखें। अपने आपको देखने के लिए ही प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करें।' ये सूत्र इसलिए बार-बार दोहराए जाते हैं कि हमारे भीतर प्रतिस्त्रोत चेतना का निर्माण हो। इस चेतना के निर्माण से व्यक्ति युवा रह सकता है, अन्यथा नहीं।

परिस्थितिवाद : एक विपर्यय

आज एक नये दर्शन का उदय हुआ है। उसका नाम है—परिस्थितिवाद। इसके आधार पर माना जाता है कि जो कुछ होता है सारा परिस्थितिजन्य ही होता है। व्यक्ति का उसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार सारा दोष परिस्थिति पर ही लाद दिया जाता है। व्यक्ति से पूछा—'तुमने लड़ाई क्यों की? यह अप्रामाणिकता का बर्ताव क्यों किया? गालियां क्यों दीं?' वह सीधा-सा उत्तर देगा—'मैं क्या करता? ऐसी परिस्थिति में इसके सिवाय कोई चारा ही नहीं था। मेरे स्थान पर यदि तुम होते तो तुम भी ऐसा ही बर्ताव करते।' इस प्रकार अपने आपको निर्दोष और पवित्र प्रमाणित करने के लिए आदमी ने परिस्थिति का एक ऐसा चोला पहन

खा है कि सारा दोष परिस्थिति पर मढ़कर निश्चिन्त हो जाता है। इस प्रकार मुख्य परिस्थिति को मुख्य और अपने अस्तित्व को गौण मानकर चल रहा है। वह अपने कर्तव्य को गौण और परिस्थिति को मुख्य मानता है। यह एक विपर्यय है। तहां यह विपर्यय काम करता है वहां समस्याओं का कभी अंत नहीं हो सकता। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा एक ऐसी चेतना का निर्माण किया जाता है कि उसमें परिस्थिति और व्यक्ति का कर्तव्य प्रथम हो जाता है। उससे गौण को गौण और मुख्य को मुख्य मानने की चेतना विकसित होती है। यह सच है कि व्यक्तित्व के निर्माण में परिस्थिति का भी योग है। पर वह गौण, मुख्य योग नहीं है।

हम प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास से प्रतिस्त्रोत की चेतना का निर्माण करें, प्रतिस्त्रोत की चेतना के द्वारा परिस्थितियों को समझने और झेलने में हम सक्षम हों और उन पर हम अपना स्वामित्व स्थापित करें।

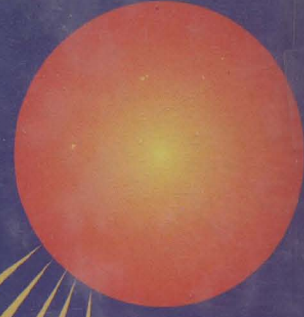
युवा वह होता है जिसमें परिस्थिति को झेलने की क्षमता होती है, परिस्थिति को ठुकराने की क्षमता होती है और अपने स्वामित्व को प्रतिष्ठापित करने की क्षमता होती है। प्रेक्षा-ध्यान चिर यौवन का महत्वपूर्ण उपाय है। जो साधक-प्रेक्षा ध्यान की अभ्यास-भूमिका में आते हैं, अपने आपको उसके प्रति समर्पित किए रहते हैं वे अनुभव कर सकते हैं कि उनका यौवन कितना स्थायी, कितना चिरजीवी और विशाल हो गया है और वे समाधि-मृत्यु के क्षण तक यही अनुभव करेंगे—‘मैं बूढ़ा नहीं हूं। मैं युवा हूं मैं युवा हूं मैं युवा हूं।’



आचार्य महाप्रज्ञ की प्रमुख कृतियां

- मन के जीते जीत
- आभा मण्डल
- किसने कहा मन चंचल है
- जैन योग
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- एकला चलो रे
- मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि
- अपने घर में
- एसो पंच णमोक्कारो
- मैं हूं अपने भाग्य का निर्माता
- समस्या को देखना सीखें
- नया मानव : नया विश्व
- भिक्षु विचार दर्शन
- अर्हम्
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- समय के हस्ताक्षर
- आमंत्रण आरोग्य को
- महावीर की साधना का रहस्य
- घट-घट दीप जले
- अहिंसा तत्व दर्शन
- अहिंसा और शान्ति
- कर्मवाद
- संभव है समाधान
- मनन और मूल्यांकन
- जैन दर्शन और अनेकान्त
- शक्ति की साधना
- धर्म के सूत्र
- जैन दर्शन : मनन और मीमांसा
आदि-आदि

मुक्त भोग
की
समस्या और ब्रह्मचर्य



आचार्य महाप्रज्ञ